# क्षणदा

महादेवी वर्मा

ग्रन्थ-संख्या २०१

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
संवत् २०१३
मूल्य ३)

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
इलाहाबाद

ग्रन्थ-संख्या २०१
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
संवत् २०१३
मूल्य ३)

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
इलाहाबाद

# अपनी बात

"क्षणदा" में मेरे कुछ चिन्तन के क्षण एकत्र हैं। इनमें न तर्क की प्रक्रिया है और न किसी जटिल समस्या को सुलझाने के निमित्त प्रस्तुत समाधान।

संगीत थम जाने पर गायक जैसे औरों के वाद्य और अपने गीत की संगति पर विचार करने लगता है, वैसे ही इनमें मेरे विचार, भाव की सीमा-रेखा पर स्थित हैं।

अणुओं का संधान ही जैसे विश्व का संघटन कर लेता है, वैसे ही हमारे विचार और अनुभूति के क्षण, समय की अखण्डता का निर्माण कर लेते हैं। अपने ऐसे ही क्षणों की सूक्ष्म अथ-इति से नाप-नाप कर हमने समय को क्षण, घंटे, दिन, मास आदि में विस्तार दिया है। इस विस्तार में, जिसे मनुष्य के चिन्तन और अनुभूति की अविच्छिन्नता ने अनन्तता दी है, कोई क्षण न चिह्न रहित है और न अकेला।

आकाश के नक्षत्र जैसे हमारी दृष्टि में अकेले दिखाई देने पर भी अपने आकर्षण-विकर्षण-परिवेश में परस्पर संयुक्त होने के कारण अनेक हैं, उसी प्रकार एक मनुष्य के विचार और अनुभूतियाँ भी अनेक मनुष्यों के विचार तथा अनुभूतियों से आक-

चित-विकम्पित होने के कारण संश्लिष्ट और अनन्त हैं। उन्हें व्यक्त करने की इच्छा इसी अनन्तता की स्थायी स्वीकृति देने की इच्छा है।

किसी को इन क्षणों के मेले में अपने खोये; पर परिचित कुछ क्षण मिल सकें, ऐसी कामना स्वाभाविक ही है।

प्रयाग
अनन्त चतुर्दशी
१९५९

**—महादेवी**

# निर्देशिका

क्षणदा

# करुणा का सन्देश वाहक

पराजय के क्षणों में यदि अपना मूल्य बढ़ाने के लिए दूसरे का मूल्य घटा देने की दुर्बलता हममें न उत्पन्न हो गई होती तो बुद्ध और उनके सिद्धान्तों से अनुप्राणित संस्कृति को, इतने घने कुहरे ने न ढक लिया होता। साधारणतः बुद्ध का स्मरण होते ही हमारे सामने नारी जैसा करुण, कोमल, डबडबाए नेत्रों वाला एक निष्फल भावुक स्वप्नदर्शी आ जाता है। कहना व्यर्थ है कि यह चित्र वास्तविक बुद्ध से कोई साम्य नहीं रखता।

यह सत्य है कि उनके प्रवचन तक बहुत समय के उपरान्त लिपिबद्ध हो सके, परन्तु बौद्ध साहित्य में जो कुछ प्रामाणिक सिद्ध हो चुका है वह भी और जिसमें कल्पना का अंश अधिक है वह भी, बुद्ध के पर्वत जैसे व्यक्तित्व का ही आभास देता है, जिससे टकरा कर एक दिन गतिहीन भारतीय संस्कृति शत शत धाराओं में फूट कर बह चली थी।

जब हम अपने सामने ऐसे कर्मनिष्ठ तत्त्वान्वेषक को पाते हैं जिसने योग की शाखाओं तथा अन्य विचार धाराओं का अध्ययन किया, पूर्व प्रतिष्ठित अहिंसा धर्म के अनुसार कठिन तप सहा, कहीं शान्ति न पाकर बहुत चिन्तन मनन के उपरान्त एक सहज मानव धर्म खोज निकाला, एकान्त से भीड़ में लौटकर प्रचलित

रूढ़ियों, परम्पराओं और विश्वासों के विरुद्ध विजय यात्रा की और जीवन के सन्ध्या काल में एक दिन अस्वस्थ शरीर से पैदल यात्रा करते करते थक कर मार्ग के एक ओर शाल वृक्षों के नीचे लेटकर दूसरी महायात्रा आरम्भ की, तब हम आँखें मल मल कर सोचते हैं—यह तो हमारी कल्पना की मूर्ति नहीं, यह तो वह बुद्ध नहीं।

बुद्ध के व्यक्तित्व में दो विशेषताएँ ऐसी हैं जिनका संयोग सहज नहीं—कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्त्व। उनके बुद्धवाद के सामने तो आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवादी भी बड़ा भावुक जान पड़ेगा। आज का बुद्धिवादी अध्यात्म की उपेक्षा करके भी अपने अहम् की पूजा-अर्चा में आस्तिक भक्त बन जाता है।

बुद्ध तो बुद्धि के सम्बन्ध में अहंकार शून्य विशुद्ध तार्किक हैं। जो तर्क से प्रमाणित नहीं किया जा सकता वह उन्हें स्वीकार नहीं। अपनी विशुद्ध बौद्धिकता के बल पर ही वे युगों से बद्धमूल विश्वासों का विरोध करने खड़े हुए और तर्क की सहज स्वाभाविकता के कारण ही हर दिशा में उनकी यात्रा विजय-यात्रा ही सिद्ध हुई; पर उनकी असीम शुष्क बौद्धिकता में मानवीय सौहार्द की अति व्याप्ति आश्चर्य का कारण बनती रहती है। प्राय. उग्र बुद्धिवाद मानवीय तत्त्व को ऐसी उपेक्षित स्थिति में पहुँचा देता है कि मनुष्य जीवन का स्पर्श ही भूलने लगता है।

हमारे बुद्धिवाद की सूक्ष्मता में खोये हुए वीतराग दार्शनिक या अविश्वासी पर सुख लिप्सु चारुवाक ही नहीं, आज के विक्षिप्त

तर्कवादी भी यही प्रमाणित करेंगे। इसके विपरीत मानवीय तत्त्व की प्रधानता एक प्रकार की भावुकता को विकास देने में समर्थ है, जो विश्वास ही नहीं अन्धविश्वास के लिए भी द्वार खोल सकती है। मानव-कल्याण-भावना पर केन्द्रित अनेक विचार धाराओं की अंधविश्वासों में परिणति इसी सत्य का उदाहरण है।

बुद्ध विशुद्ध बौद्धिक और सहज मानव हैं, इसीसे विद्वानों की परिषदों मे उनका जय-शंख बजता रहा और साधारण जीवो में उनकी करुणा की रागिनी गूँजती रही।

संसार के धर्म-संस्थापकों की पंक्ति में बुद्ध ही ऐसे अकेले हैं जिन्होंने मनुष्य के सम्बन्धों में सामंजस्य लाने के लिए परमात्मा की मध्यस्थता नहीं स्वीकार की, मनुष्यता उत्पन्न करने के लिए किसी पारलौकिक अस्तित्व का सहारा नहीं लिया। जिस निर्मम बौद्धिकता के साथ वे अपने वचनों को भी तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करने के लिए कहते हैं, उसी के साथ वे जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने संस्थापित धर्म के लिए कोई उत्तराधिकारी नहीं चुनते। उलटे अपने योग्य और प्रिय शिष्य से कह देते हैं—'गुरु नहीं रहा यह न समझना आनन्द ! मेरे द्वारा जो धर्म विनय उपदिष्ट हुआ है, प्रज्ञप्त हुआ है, मेरे न रहने पर वही तुम्हारा गुरु है।'

अपने अन्तिम आदेश से अधिक उन्हें दूसरों की भ्रान्ति निवारण की चिन्ता है—'भिक्षुओ ! बुद्ध-धर्म-संघ में एक भिक्षु को भी शंका हो तो पूछ लो।' पर यह बौद्धिकता उनकी सहज

करुणा से आर्द्र है। इसी से जिसके यहाँ भोजन कर उन्हें प्राणान्तक व्याधि मिली उसके दुख की चिन्ता है—'आनन्द ! चुन्द कर्मार-पुत्र के इस शोक को दूर करना, कहना—आवुस ! लाभ है तुझे, तूने सुलाभ कमाया जो तथागत तेरे पिंडपात का भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।'

विशुद्ध तार्किकता और पूर्ण मानवता के अतिरिक्त उनकी दूरदर्शिता और संगठन-शक्ति भी विस्मित कर देने वाली है, क्योंकि एक हमें निपुण नीतिज्ञ और दूसरी अनुभवी सेनानी का स्मरण दिलाती है।

ब्राह्मण-धर्म विद्वत्परिषदों और क्लिष्ट संस्कृत ग्रन्थों में सीमित होता जा रहा था। उसके विरोध में बुद्ध ने जिन अस्त्रों का प्रयोग किया वे उसके लिए अतर्कनीय थे। संस्कृत वाणी का स्थान साधारण जनता की भाषा को और विद्वानों का स्थान, प्रत्येक मनुष्य को देकर उन्होंने संघर्षों से पहले ही जय पा ली।

बौद्ध-धर्म के प्रसार का बहुत कुछ श्रेय उनकी संगठन-शक्ति को दिया जाना चाहिए। बौद्ध-संस्कृति के बुद्ध, धर्म, संघ तीन स्तम्भ हैं। जिनमें पहला बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से संबंध रखता है, दूसरा उनके द्वारा निश्चित नैतिक आचरण से और तीसरा सिद्धान्त और धर्म के प्रसारार्थ संगठन से। सिद्धान्तों के सम्बन्ध में शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण रखकर, आचरण के सम्बन्ध में सहज व्यावहारिकता का ध्यान रख कर और संघ के सम्बन्ध मे सद्भाव मूलक नियंत्रण रख कर उन्होंने अपने निर्माण को गहराई और ऊँचाई दोनों ही दी थीं। 'हम वीर हैं, दुःख शमन के लिए

वीर है' अंगुत्तर निकाय का यह वाक्य उनके लिए जितना सत्य है उतना और किसी के लिए नहीं। उनकी विजय मनुष्यता की देवत्व पर विजय है। विडम्बना यह है कि ऐसे पूर्ण मनुष्य को मनुष्य ने फिर देवताओं में निर्वासन दे डाला।

भारतीय विचार-परम्परा से बुद्ध की विचारधारा कोई साम्य नहीं रखती, ऐसी भ्रान्त धारणा का अभाव नहीं। यह सत्य है कि बुद्ध अपनी दिशा में मौलिक हैं; परन्तु तत्कालीन वातावरण से उनका सम्बन्ध नहीं, ऐसी कल्पना से न बुद्ध की विचारधारा का महत्त्व बढ़ता है न हमारे चिन्तन की विविधता का। सम्भवत: बौद्ध-धर्म के अपनी ही जन्मभूमि से निर्वासित हो जाने पर उसके मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हमारे अज्ञान ने ही एक प्रकार के विश्वास का स्थान ले लिया हो। उसके अनेक सिद्धान्त हमारे जीवन में नित्य प्रयुक्त होते रहे, उसके कला शिल्प आदि के आदर्श हमारे साथ चलते रहे, पर हमने उस धर्म को अपने से दूर ही माना। अवश्य ही इस धारणा ने हमारी सांस्कृतिक चेतना की एक महत्त्वपूर्ण धारा को उसकी मूल धारा से भिन्न स्थिति देकर हमें कुछ दरिद्र ही बनाया। उस विचारधारा के प्रति हमारा समन्वयात्मक दृष्टि-कोण रहा अवश्य; पर उस समन्वय के प्रति हम जागरूक नहीं रहे। इसीसे अन्तर ज्यों का त्यों बना रहा।

वास्तव में बुद्ध के समय तक उपनिषदों में मिलने वाली चिन्तन प्रणालियाँ बहुत विकसित हो चुकी थीं और तत्कालीन विचार स्वातन्त्र्य के कारण उनकी विविधता उत्तरोत्तर बढ़ती

जा रही थी। सम्भवतः बढ़ते हुए आत्मवाद ने मनुष्य को इतना अन्तर्मुखी बना दिया कि बाह्य जीवन की समस्या का कोई समाधान खोजना अनिवार्य हो उठा। इस चिन्तन की विविधता के साथ-साथ जैन तीर्थंकरों का अहिंसा-धर्म भी विस्तार पा रहा था। बुद्ध ने आत्मवाद को और उलझाने वाला तत्त्व समझ कर और जैन-धर्म की नकारात्मक आस्तिकता और शरीर-संयम की प्रधानता में बौद्धिकता का विकास न देख कर वह मार्ग ग्रहण किया जो उनके विचार में अधिक बौद्धिक और अधिक व्यावहारिक था।

संसार की नित्यता और अनित्यता आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के उत्तर में या वे मौन ही रहे या किसी सहज रूपक द्वारा समझाते हुए प्रश्नकर्ता को उसके प्रश्न की व्यर्थता तक पहुँचा आये। उनके निकट चार आर्य सत्य हैं। दुःख, दुःख समुदय (कारण), दुःख-निरोध और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा। यह दुःख न किसी आध्यात्मिक जगत् का दुःख है और न सूक्ष्म दार्शनिक जगत् के असंतोष का पर्याय है, प्रत्युत् प्रत्यक्ष जीवन का दुःख है।

'क्या है आवुसो दुःख? जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मृत्यु भी दुःख है, शोकक्रन्दन भी दुःख है, मनस्ताप भी दुःख है, चिन्ता भी दुःख है, किसी चीज की इच्छा करके न पाना भी दुःख है। क्या है आवुसो दुःख निरोध? जो उस तृष्णा का त्याग, विराग, निरोध, मुक्ति अनालय है वह कहा जाता है दुःख निरोध। क्या है आवुसो दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा? यह अष्टांगिक मार्ग है, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् संकल्प,

सम्यग् वचन, सम्यग् कर्म, सम्यग् आजीव, सम्यग् व्यायाम, सम्यग् समाधि।' (सम्मादिट्ठि सुत्तन्त)

उपर्युक्त दुःख के सभी रूप भौतिक जीवन से संबंध रखते हैं और उनसे दूर होने का उपाय आचरण का परिष्कार और चित्त की शुद्धि है।

बुद्ध होने का प्रयत्न करने वाला बोधिसत्व है और बोधिसत्व के लिए दो गुण आवश्यक होते हैं। महामैत्री और महाकरुणा। महामैत्री उसे अन्य प्राणियों के लाभ के लिए अपना सर्वस्व त्यागने की शक्ति देती है और महाकरुणा के कारण वह सब को दुःख से विमुक्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

बुद्ध का निर्वाण भी जीवन के उपरान्त कोई स्थिति न होकर जीवन की ही ऐसी स्थिति है जिसमें तृष्णा के क्षय से दुःख का क्षय हो गया है। पर यह दुःख का क्षय केवल अपने लिए नहीं है, इसी से बोधिचर्यावतार में मिलता है—'सर्वस्व त्याग में निर्वाण है, मेरा चित्त उस स्थिति के लिए प्रस्तुत है, अतः सब कुछ समर्पण कर देना उचित है। इसे सब को दे देना उचित है।'

मनुष्य के कल्याण-अकल्याण की भावना भी व्यावहारिक है।

'क्या है आवुसो अकुशल? हिंसा अकुशल है, चोरी अकुशल है, दुराचार अकुशल है, असत्य बोलना अकुशल है, चुगली अकुशल है, कठोर वचन अकुशल है, बकवाद अकुशल है, लालच अकुशल है, प्रतिहिंसा अकुशल है, झूठी धारणा अकुशल है।' (मज्झिम निकाय)

इन कार्यों को न करने से मनुष्य को कुशल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बुद्ध का मनुष्य समष्टि का मनुष्य है और उसका निर्वाण सब की दुःख-मुक्ति में अपनी दुःख-मुक्ति है। इसी से वे दीर्घ निकाय में कहते हैं—'जैसे समुद्र का जल जहाँ उठाओ वहीं लवण-रस है वैसे ही मेरा धर्म-विनय सब जगह मुक्ति-रस है।'

बुद्ध की विचारधारा में एक निराश दुःखवाद है—ऐसा आक्षेप भी सुना जाता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना उचित है कि प्रत्येक कल्याण-प्रतिपादक की स्थिति दोहरी होती है। वह अकल्याण की स्थिति को मानता है, अन्यथा कल्याण की चर्चा ही व्यर्थ हो जायगी। इस तरह अकल्याण मूलक दुःख पर केन्द्रित रहने के कारण उसकी दृष्टि दुःखवादिनी रहे, यह स्वाभाविक है। पर यह स्थिति कल्याण में बदल सकती है—इसमें उसका अटूट विश्वास रहता है; अन्यथा उसके प्रयत्न में कोई सार्थकता ही नहीं रहेगी। इस तरह कल्याण पर आश्रित उसका दृष्टिकोण आशावादी ही रहेगा।

समय-समय पर कल्याण की परिभाषा बदलती रही है और उसी के विपरीत तत्त्व दुःख समझे जाते रहे। जब भौतिक समृद्धि ही कल्याण का पर्याय थी, तब उसे अप्राप्य बताने वाली बाधाएँ ही, दुःख थी। जब परमतत्त्व में आत्मतत्त्व का लीन हो जाना कल्याण माना गया, तब भौतिक जगत् दुःख का कारण बन गया। बुद्ध का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है। धन, काम आदि

की तृष्णा से ही मनुष्य स्वयं दुःखी होता और दूसरों के दुःख को बढ़ाता है, अतः ऐसी तृष्णा का क्षय ही कल्याण है। यह कल्याण चित्त और आचरण की शुद्धता से प्राप्त हो सकता है। उनकी कल्याण की भावना समष्टिगत है, अतः दुःख की व्यापकता के कोने-कोने का स्पर्श कर उनकी दृष्टि का विषाद भी विशालता पा गया है।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित, इच्छा के एकान्त त्याग पर तत्कालीन धर्म, समाज, जीवन आदि की व्यवस्थाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा—यह विश्वास करना कठिन है, क्योंकि हमारे यहाँ एकान्त स्वार्थ को पराजित करने के लिए ही एकान्त त्याग का ब्रह्मास्त्र प्रयोग में आता रहता है। उदाहरण के लिए हम गीता के निष्काम कर्म को ले सकते हैं।

जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है, वह तत्कालीन उपनिषदों में मिलने वाली विचारधारा से इतना साम्य रखती है कि उसे उसी चिन्तन-प्रणाली का एक रूप मानना उचित होगा। उपनिषदों में किसी विशेष मत या धर्म का प्रतिपादन नहीं किया गया है। वे तो विविध विचारकों के चिन्तन की समष्टि मात्र उपस्थित करते हैं। तत्कालीन आत्मवाद में भारतीय बुद्धिवाद अपनी चरमसीमा तक पहुँच चुका था। वह आत्मा जो अहंकार, मनस और विज्ञान की समष्टि है, आत्मवाद का शुद्ध आत्मन् नहीं और जिस आत्मा को बुद्ध अस्वीकृत करते हैं, वह अहंकार, मनस और विज्ञान की समष्टि है। इस प्रकार एक ही धरातल पर स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रश्न नहीं उठता। निर्वाण

प्राप्ति के उपरान्त की शून्यता और आत्मन् की शून्य व्यापकता विवाद का विषय रहेंगे।[1]

अनेक प्रश्नों के सम्बन्ध मे व्यावहारिक धरातल पर बुद्ध मौन हैं और अनेक प्रश्नों के सम्बन्ध में बौद्धिक धरातल पर उपनिषदों के मनीषी 'नहीं जानते, नहीं जानते' पुकार उठते है। इन प्रश्नों को छोड़ कर बुद्ध की विचारधारा मे बहुत कुछ वही है जो तत्कालीन विचारों में भी मिलता है। अवश्य ही सब की परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

बुद्ध के प्रवचनों मे बारबार आने वाली अविद्या उपनिषदों में भी बारबार उपस्थित हो जाती है। 'अन्धतमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते' जैसे वाक्यों में हम इस अज्ञान ही का संकेत पाते रहते हैं। बुद्ध जिस तृष्णा को दुःख का कारण मानते हैं वह भी काम के रूप में उपनिषद् तथा वेद में अपना परिचय देती रहती है—'स कामाय जायते, कामो जज्ञे प्रथमः।'

जहाँ तक शरीर के आयास के विरोध में चित्त शुद्धि का प्रश्न है, उसे याज्ञवल्क्य विदेह आदि की स्वीकृति मिल चुकी थी। नैतिक आचरण के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य, शम, चित्त का संयमन, यम, इन्द्रियों का निग्रह आदि की भावना भी पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। अतः बुद्ध ने उसे अपनी विचारधारा के अनुरूप बनाकर जो संगठित रूप दिया, वह नवीन होने पर भी भारतीय जीवन के लिए परिचित कहा जायगा।

# संस्कृति का प्रश्न

दीर्घनिकाय मे मनुष्य के क्रमश. उन्नति और अवनति की ओर जाने के सम्बन्ध में कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति मे विचित्र साम्य रखता है —

'उन लोगों में एक दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता मे पुत्र के प्रति, पुत्र में माता के प्रति, भाई में बहिन के प्रति, बहिन में भाई के प्रति, भाई में भाई के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा, जैसे मृग को देखकर व्याध में तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होता है। वे एक दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथों में पैने शस्त्र होंगे। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रों से एक दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्वो मे कुछ सोचेंगे 'न मुझे औरों से काम न औरों को मुझ से काम अत: चलकर घने तृण-वन-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन के फल-फूल खाकर रहा जावे।' फिर वे घने तृण-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन के फल-मूल खाकर रहेंगे। एक सप्ताह वहाँ रहने के पश्चात् वे घने......से निकल कर एक दूसरे

का आलिंगन कर एक दूसरे के प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट करेंगे। (चकवत्ति सिंहनाद सुत्त ३।३)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की सत्यता तो हमारे जीवन में साधारण हो गई है; परन्तु दूसरे अंश की सत्यता का अनुभव करने के लिए सम्भवतः हमें इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब शस्त्रों की झझनाहट में जीवन का संगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया में विकास का पथ खोता जा रहा है, तब संस्कृति की चर्चा व्यंग जैसी लगे तो आश्चर्य नहीं। परन्तु जीवन के साधारण नियम में विश्वास रखने वाला यह जानता है कि सघन से सघन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नहीं रखता, वज्रपात का कठोर से कठोर शब्द भी स्थायी हो जाने की शक्ति नहीं रखता। जब मनुष्य का आत्म-घाती आवेश शान्त हो जावेगा, तब जीवन के विकास के लिए सृजनशील तत्त्वों की खोज में, सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

संस्कृति की विविध परिभाषाएँ सम्भव हो सकी है, क्योंकि वह विकास का एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वया-त्मक समिष्ट है, जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप, रंग, आकार, बोलचाल, विचार, आचरण आदि से परिचित हो जाना

आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को मूलत. समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आन्तरिक संस्कार का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणितत्त्व को खोजता है, प्राणितत्त्व में मनस्तत्त्व को खोजता है और मनस्तत्त्व में तर्क तथा नीति को खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि में सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन की निरन्तरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाये हुए है।

साधारणतः एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूपरेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उनकी विशेष आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है; आन्तरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-चेतना की परीक्षा करें, तो दूर-दूर बसे मानव-समूहों में आश्चर्यजनक

मान्य मिलेगा। जीवन के विकास सम्बन्धी प्रश्नों के सुलझाने की विधि में अन्तर है; परन्तु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अन्तःचेतना में अन्तर नहीं।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं और अनेक नाश के निकट जा रही हैं तब संस्कृति को विकास का क्रम क्यों माना जावे !

उत्तर सहज है—निरन्तर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओं से घेर कर उसका बहना रोक दिया गया, तब उसे हम चाहे पोखर कहें चाहे झील, किन्तु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा।

संस्कृति के सम्बन्ध में यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि वह ऐसी नदी है जिसकी गति अनन्त है। वह विशेष देश, काल, जलवायु में विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरन्तर है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ चिरंतन हैं; पर मनुष्य अजर-अमर नहीं। एक पीढ़ी जब अतीत के कुहरे में छिप जाती है, तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक-पथ में आती है। यह नवीन पीढ़ी मानव-सामान्य अन्तश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्त्तियों की की उत्तराधिकारी भी

से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गन्तव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चिन्त शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी यात्रा ही समाप्त हो जाती है। महान् और विकसित संस्कृतियाँ इसलिए नहीं नष्ट हो गई कि उनमे स्वभावतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् अशरीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गई कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नहीं दे सका। प्रकृति के अणु-अणु के सम्बन्ध मे मितव्ययी मनुष्य ने अन्य मनुष्यों के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, क्योंकि वह अतीत की वैभव-कथा ही नहीं, वर्तमान की करुण गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। संस्कृति विकास के विविध रूपो की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध सस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्त्व समझने के लिए हमें अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति मे आदि से अन्त तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं। फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियों को छोड़ सहस्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोने में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू-भाग तक फैली हुई है। उसमें एक सीमा से दूसरी तक, आदि से अन्त तक एक ही

धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड़ मान लेना है। भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से काट-छाँट कर निकाली हुई नहर नहीं, वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है। उसे अंधकार भरे गर्भो में उतरना पड़ा है, ढालों पर बिछलना पड़ा है, पर्वत जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पड़ा है; पर इस लम्बे क्रम में उसने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नहीं सूखने दी। उसका पथ विषम और टेढ़ा मेढ़ा रहा है, इसी से एक घुमाव पर खड़े हो कर हम शेष प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते हैं; परन्तु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खंड-खंड में नहीं बट जाता।

जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धाराएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकास पाते रहने पर भी ऐसी समीप हैं कि एक के साध्य बन जाने पर दूसरी साधन बन कर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनों का समन्वय हमारे जीवन को विविधता देता रहता है। अनेक सिद्धान्त, हमारे जीवन के समान ही पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की अहिंसा को ले सकते हैं, जिससे पिछले अनेक वर्षों से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेष नैतिक बल मिलता आ रहा है एक बड़ संघष और निराशा क युग क

पहले महाभारत काल का अनुसरण करने वाले युग में बुद्ध ने भी। इस सिद्धान्त का मूल हमें उपनिषद् ही नहीं वेद के मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' में भी मिलता है। यज्ञ के लिए हिंसा के अनुमोदकों के साथ-साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मण काल में इन दोनों विचारधाराओं की रेखाएं कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञ धर्म में आत्म-विद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषद् काल में वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचारधाराओं के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक अनुसधान कुछ कम ज्ञानवर्धक न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है, जिसने हमारे जीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नयी दिशा दी। उसमें और वैदिक संस्कृति में विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अन्तिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियो के भार से दबे जीवन का सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग है, जिसने सभी बाधाएँ तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति समवेदना नहीं है। दूसरी में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुःखबोध जनित करुणा है, परन्तु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो नरक भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है, ऋग्वेद का ऋषि उसका नाम पता नहीं जानता। जिस नारी की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कम्पित होते रहे हैं, ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नहीं है। जिस दुःखवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है, ऋग्वेद का मनीषी उसके सम्बन्ध में कुछ कहता सुनता नहीं। इसके विपरीत बौद्ध संस्कृति का मनुष्य, रामायण काल की सतर्क परिणति और महाभारत के संघर्ष का उपसंहार पार कर आया है; दुःख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवों से बुद्धिमान बन चुका है।

इसीसे वैदिक संस्कृति अपनी यथार्थता में भी आदर्श के निकट है और बौद्ध संस्कृति अपनी बौद्धिकता में भी अधिक यथार्थोन्मुखी है। एक प्रवृत्ति प्रधान और दूसरी अपरिग्रही है; परन्तु दोनों विकास की ओर गतिशील हैं। आज की परिस्थितियों में अपने जीवन को स्वस्थ गति देने के लिए सांस्कृतिक विकास के मूल तत्त्वों को समझना ही पर्याप्त न होगा। उनकी समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरन्तर निर्माण-क्रम नहीं, पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसीसे हम उसे अपने जीवन के लिए कठोर साथी बना लेते हैं। इस भ्रान्ति ने हमें जीवन के मूल तत्त्वों को नवीन परिस्थितियों के साथ किसी सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध में रखने की प्रेरणा ही नहीं दी। हम तो अतीत के ऐसे कृपण उत्तराधिकारी हैं, जो उनमें से कुछ भी

अपने ऊपर व्यय नहीं कर सकता और सतर्क पहरेदार बना रहने में ही कर्त्तव्य की पूर्ति मानता है।

जीवन जैसे आदि से अन्त तक निरन्तर सृजन है, वैसे ही संस्कृति भी निरन्तर संस्कार क्रम है। विचार, ज्ञान, अनुभव, कर्म आदि सभी क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजन-क्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित हैं। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। संस्कृति के सम्बन्ध में भी यही ज्ञान सत्य है। परन्तु विकास की किसी स्थिति में भी जैसे शरीर और अन्तर्जगत् के मूल तत्त्व नहीं बदलते, उसी प्रकार संस्कृति के मूल तत्त्वों का बदलना भी सम्भव नहीं।

आज की सर्वग्रासी परिस्थिति में यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहें, तो अपनी सांस्कृतिक चेतना को मूलतः समझना और उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैकड़ों फ़ीट नीचे भू-गर्भ में, गहरी गुफाओं में या ऊँची-ऊँची शिलाओं में मिले हुए अतीत वैभव तक ही हमारी संस्कृति सीमित नहीं, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय में भी स्थापित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिन्हों की खोज नहीं, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक धन की खोज है और यह उत्तराधिकारी प्रत्येक झोपड़े के कोने में उसे पाने को उत्कंठित बैठा है।

# कसौटी पर

किसी भी विकासोन्मुखी जाति के सिद्धान्त और जीवन-आदर्श और आचरण तथा स्वप्न और निर्माण में मात्राओं का चाहे जितना न्यूनाधिक्य रहे; परन्तु एक दूसरे को निष्क्रिय कर देने वाले विरोधी तत्त्वों की उपस्थिति सम्भव नहीं। कारण स्पष्ट है। सृजनात्मक गतिशीलता में यह द्वन्द्व, बिम्ब-प्रतिबिम्ब रहकर ही पूर्ण हो सकते है, परस्पर पूरक होकर ही जीवन का विकास कर सकते हैं। जैसे-जैसे जीवन का परिष्कार होता चलता है, वैसे-वैसे इनकी सापेक्ष स्थिति उत्तरोत्तर परिष्कृत और दृढ होती जाती है।

इस सामान्य नियम का व्यतिक्रम वही मिलेगा, जहाँ किसी जाति का विकास-क्रम रुक गया है, क्योंकि उस स्थिति मे उसके अन्तर्जगत् और बाह्य जीवन के बीच एक ऐसी खाई आ पड़ती है, जो समय के साथ-साथ चौड़ी होती हुई एक को दूसरे से दूर करती रहती है और अन्त मे मनुष्य अपने मानसिक ऐश्वर्य को शून्य आकाश में तथा बाह्य जीवन के दारिद्रय को अँधेरे पाताल मे बन्दी रखने के लिए बाध्य हो जाता है।

एक असभ्य जाति अपने अन्तर्जगत् और व्यवहार जगत् में समान रूप से असंस्कृत होगी; परन्तु जिस अनुपात से उसका

मानसिक विकास होता रहेगा, उसी अनुपात से उसका बाह्य जीवन भी परिष्कृत होता चलेगा। इसके विपरीत ह्रासोन्मुख सभ्यता में मनुष्य का बाह्य जीवन उसके अन्तर्जगत् से दूर जा पड़ता है। उसके सिद्धान्त, संस्कारमात्र बनकर रह जाते है, आदर्श अलंकारों के समान बोझिल निष्क्रियता प्राप्त कर लेते हैं। कल्पना और विचार रूढ़ियों मे बँध जाते है और उसका सम्पूर्ण बाह्य जीवन या तो लीक पीटने मे सीमित हो जाता है, या सस्ते अवसरवाद में बिखर जाता है। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की भी चेतना पानी के ऊपर तैरती हुई तेल की बूंदों के समान जीवन से भिन्न दिखाई देती रह सकती है; परन्तु उसमे घुलकर प्रेरणा बनने की शक्ति नही रखती।

हमारा आज का जीवन भी इस नियम का अपवाद नही। एक ही परिधि मे हमारे सिद्धान्त और धर्म स्वर्ग बसाते रहते हैं और हमारा जीवन नये-नये नरकों की सृष्टि करता रहता है। एक ही क्षितिज-रेखा पर हमारे आदर्श और स्वप्न, किरणो के रंग भरते रहते हैं और हमारा यथार्थ अन्धकार के बादल पुंजीभूत करता रहता है। एक ही मन्दिर में हमारी भावना और कल्पना अतिमानव में दिव्यता की प्राणप्रतिष्ठा करने मे तन्मय रहती है और हमारा आचरण पशुता की मूर्ति गढने मे लगा रहता है।

इस प्रकार हमारी शक्तियाँ, न अन्तर्जगत् को इतना मूर्त्त रूप दे सकीं कि हमारे आदर्श जी उठते और न हमारे बाह्य जीवन में इतनी चेतना भर सकीं कि वह अपने नरक से ऊब

उठता। हम एक ही जीवन में अनेक परस्पर विरोधी जीवनों का बोझ लादे, अपने ही बनाये को मिटाते और उजाड़े को बसाते न जाने कब से दिग्भ्रान्त के समान कहीं न पहुँचने के लिए चल रहे हैं।

शताब्दियों की दासता ने हमारी नैतिकता नष्ट कर दी, यह भी सत्य है और हमारी सक्रिय नैतिकता का अन्त हो जाने पर ही, दूसरों की सृजनात्मक शक्ति के सामने हमें नतमस्तक होना पड़ा, यह भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह प्रश्न पृथ्वी के समान छोर-हीन वृत्त है। चाहे जहाँ से चला जावे, सारी सीमा पार कर फिर वहीं पहुँचना निश्चित है।

जब तक हम स्वप्नों को सत्य करने के लिए गतिशील रहे, आदर्शों को मूर्त्त रूप देने के लिए कर्मठ रहे और सिद्धान्तों का खरापन कसने के लिए उतावले रहे, तब तक व्यावहारिक जीवन का बड़े से बड़ा मू य देने को प्रस्तुत रहे, क्योंकि हमारे अन्तर्जगत् की साकारता वहीं सम्भव है। जब हमारे लिए स्वप्न, आदर्श और सिद्धान्तों को, एक सुखमय भार के समान ढोना भर शेष रह गया, तब बाह्य जीवन के लिए तुच्छ से तुच्छ मूल्य देना भी हमारे निकट जीवन का असह्य अपव्यय हो उठा।

हमारे ज्ञान-युग के ऐश्वर्य के चरणों में, व्यक्त जीवन का जो दैन्य बँधा है, वह किसी सर्वांग सुन्दरी माता की कुरूप और विकलांग सन्तान के समान भिन्न और विस्मय की वस्तु होकर भी उसी के अस्तित्व से निर्मित है। जब हमने भौतिक जगत् को माया और भ्रान्ति की संज्ञा देकर अपने अन्तर्जगत्

से निर्वासित कर दिया, तब उसने हमारे मानसिक वैभव कोष को अशरीरी अस्तित्व देकर मानो अपने प्रतिशोध का ऋण पाई-पाई चुकता कर लिया।

जब किसी जाति की मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है, तब उसे उनके लिए मार्ग छोड़ देना पड़ता है, जो जीवन का अधिक से अधिक मूल्य दे सकते हैं। व्यावहारिक जगत् में हमारा दान जिस परिमाण तक गुरु होता है, आदान उसी परिमाण तक मूल्यवान बन जाता है। दूसरे शब्दों में जो देने की चरम सीमा छू लेता है, वही आदान की असीमता का मापदंड निश्चित करता है।

जब हम अपने सिद्धान्त, आदर्श और स्वप्नों के अभिषेक के लिए हृदय का अन्तिम रक्त-बिन्दु तक दे सकते थे और भौतिक जीवन के धूल भरे पैरों को दिव्यता के शिखर तक पहुँचाने के लिए अपने मनोजगत् की अमूल्य निधियों को सीढ़ियों में चुन सकते थे, तब अन्य संस्कृतियाँ पर्वत से टकराई लहरों के समान या तो हमसे टकरा-टकरा कर लौट गईं, या हमारे चरणों के मूल में टिकी रहीं। पर, जिस दिन उसी दधीचि की धरती पर बैठकर, जिसने दानवी शक्तियों के चुनौती देने पर अपने तपोधन को सुरक्षित रखने वाले शरीर की अस्थियाँ तक दे डालीं, हम अपने बुद्धि-कोष के हीरे मोतियों को गिनने लगे और बाहर फैलते हुए क्रन्दन को भ्रान्ति भ्रान्ति कहकर जीवन की करुण पुकार को अनसुनी करने लगे, उसी दिन क्षमाहीन काल ने हमारे विकास के इतिहास को उलटी ओर से लिखना आरम्भ किया। और आज

तो हम वहाँ आ पहुँचे हैं, जहाँ से कभी चले थे। अन्तर केवल इतना ही है कि तब हमारे पास आत्मविश्वास का सम्बल था और आज कंधों पर असंख्य भूलों का भार है।

जिस युग में हम एक दूसरे से स्वतन्त्र समूहों में सीमित थे, उस युग में जीवन की कसौटी सहज थी और जीवन का मूल्य अल्प था। ज्यों-ज्यों हमारे सम्पर्क का विस्तार बढ़ता गया, जीवन का मूल्य चढ़ता गया और उसकी कसौटी भी कठिन होती गई। आज जब हम पृथ्वी के एक छोर पर रहकर भी दूसरे छोर से इस प्रकार बँधे हैं कि एक ओर से उठा स्वर दूसरी ओर का राग भी बन सकता है और चीत्कार भी, तब न जीवन का मूल्यांकन सहज है और न कसौटी का एक रूप रह गया है। ऐसी दशा में यदि हम अपनी भूलें न सुधार लेंगे, तो जीवन ही सम्भव न हो सकेगा। यदि हम शुतुर्मुर्ग के समान मिट्टी में सिर छिपाकर पड़े भी रहें, तो उससे इतना ही लाभ हो सकता है कि बाणों के आने की दिशा न जानें, पर उनके स्थायी लक्ष्य बनते रहें।

हमारी वर्तमान विकृति में अन्धकार जैसी व्यापकता और मृत्यु जैसी एक रसता तो है ही, साथ ही उसकी व्यावहारिक विभिन्नता में विचित्र एकरूपता भी मिलेगी। जो ग्वाला अठगुना दाम लेकर भी दूध में पानी मिलाये बिना नहीं मानता और अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए प्रचलित तालिका में से एक भी शपथ नहीं छोड़ता, उसका मिथ्या, मन्दिर में देवता के चरणों के पास बैठकर धर्म का व्यापार करने वाले पुजारी के

मिथ्यावाद का सहोदर है। दूसरे के अर्थ पर सम्पाती जैसी तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाले पूँजीपति की क्रूरता, उदार साम्योपासक की उस हृदयहीनता की सहचरी है, जो उसे थके घोड़े और टूटे शरीर वाले इक्केवान और आधी रात के समय बरसते पानी में सामान उतारने वाले कुली की मजदूरी में से दो पैसे काट लेने पर बाध्य कर देती है। दुर्बल भिखारी की उपेक्षा कर चींटियों को चीनी आटे पर पालने वाले तिलकधारी जपी में सहानुभूति का जो अभाव है, वही, त्यागी सुधारवादी को दूसरों की भूख पर अपने स्वार्थ का प्रासाद खड़ा करने की दुर्बलता देता रहता है।

जो विकृत वासना, विलास के कीटों को, जीवन का घुन बना देती है, वही शिक्षित और सम्भ्रान्त वर्ग की दृष्टि में एक अस्वस्थ प्यास बनकर झाँकती रहती है। अनेकों आँखों के सामने तुला से खेल करने वाली वणिक् की उँगलियों में जो बाजीगरी है, उससे वे हाथ भी अपरिचित नहीं,जो मँहगे-सस्ते कागज़ पर आश्रित होकर बहुमूल्य और मूल्यहीन लेखनियों को आश्रय देते हैं। यह कथन कटु हो सकता है, पर असत्य नहीं। चाहे हम समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य आदि किसी भी क्षेत्र का तत्त्वतः अध्ययन करें और चाहे अपने अनन्य अध्यात्मवादी से लेकर घोर भौतिकवादी नेताओं के अनुभवों को एकत्र कर लावें, इस सत्य को मिथ्या प्रमाणित करना कठिन ही नहीं असम्भव होगा।

हमारी इस मूलगत एकता का कारण है। विकृति विषैली गैस के समान वातावरण में व्याप्त होकर प्रत्येक साँस में समाती

रही और इतनी शताब्दियों के उपरान्त आज तो वह हमारे जीवन का ऐसा जीर्ण ज्वर बन चुकी है, जिसकी उपस्थिति का बोध हमें अपने अंगो की शिथिलता में ही होता है। जब गन्तव्य पथ पर हमारे पैर कहीं के कहीं पड़ते हैं, जब प्राप्य की ओर हमारे हाथ नहीं बढते और जब लक्ष्य पर हमारी दृष्टि नहीं ठहरती, तब हम इसे अपनी व्याधि-जनित असमर्थता न मान कर कहते है...मार्ग दुर्गम है, प्राप्य दुर्लभ है और क्षितिज भ्रान्त है।

सब जगह हमारा दम्भ गहरा है और विवेक उथला है। सर्वत्र हमारी हृदयहीनता स्वभावगत हो गई है और स्वार्थ-परता चरित्र में रम रही है। सब स्थितियों में मिथ्या हमारे प्राणों मे बस गया है और कपट मज्जागत बन रहा है। सर्वदा हमारे सिद्धान्त धरोहर बनकर ही ठहर सकते है और परिवर्तन बहुरूपियापन में ही अस्तित्व पाता है। हमारा नैतिक पतन आज उस अजगर के समान हो उठा है, जो सौन्दर्य और सत्य की सजीव प्रतिमाओं को भी साँस के साथ खीच कर उदरस्थ कर लेता है और फिर अपने शरीर को तोड़-मोड़ कर उन्हें चूर-चूर बना ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है, जिसमें वे उस अजगर के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहती।

विकास की पहली आवश्यकता है कि हमारे बौद्धिक ऐश्वर्य, हृदय की प्रेरणा और क्रिया में ऐसा सामंजस्यपूर्ण तारतम्य हो, जो हमारे जीवन के राग को विरोधी स्वरों से बेसुरा न कर सके। वह सक्रियता जो दूसरों के अमूल्य अलंकारों को धरोहर

बना कर व्यवसाय करने वाले महाजन से मिलती है हमें किसी दिशा में भी निर्माण न करने देगी, यह कटु सत्य अनेक बार परीक्षित हो चुका है। हमारे जीवन को पारस होने का वरदान तो अब तक प्राप्त नहीं हो सका, जिससे उसके स्पर्श मात्र से सब कुछ सोना हो जाता; पर भस्मासुर का अभिशाप हर समय उसके साथ है, जिससे वह जब चाहे स्वयं सोने से राख का ढेर बन सकता है।

कोई भी सत्य सिद्धान्त, भव्य स्वप्न और पूर्ण आदर्श जीवन से शून्य होकर न कुछ मूल्य रखता है, न किसी रूप में ढलता है और न किसी प्रकार का स्पन्दन पाता है। वह तो उसी अंश तक सारवान है, जिस अंश तक जीवन की कसौटी पर परखा जा चुका है।

स्वयं ईसा के अनुयायी ही उनके सिद्धान्त की अवहेलना कर रहे हैं। परन्तु ऐसी स्थिति में भी कोई उस सिद्धान्त को खोटा सिक्का मानने को क्यों प्रस्तुत नहीं है? केवल इसलिए कि वह ईसा के जीवन पर कसा जाकर खरा उतरा है। स्वयं बुद्ध के उपासक ही उनके आदर्श के विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। फिर भी संसार उस आदर्श को भ्रान्ति की संज्ञा क्यों नहीं देना चाहता? केवल इसलिए कि वह आदर्श बुद्ध के जीवन में स्पन्दित होकर अपने युग की कठिन से कठिन अग्नि-परीक्षा पार कर आया है। आज के रक्तपिपासु युग में भी अहिंसा को मृत्युदंड नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह एक साधक की वज्र अस्थियों में पल चुकी है।

जब हम किसी सत्य को भीतर आने वाली साँस में स्वीकार करते हैं और बाहर जाने वाली निश्वास में अस्वीकार कर देते हैं, तब न उसकी कोई कसौटी सम्भव है और न उसका कोई मूल्य निश्चित हो सकता है। ऐसी दशा में वह केवल हमारा बोझ बढ़ाता रहता है।

अपनी दुर्बलता की बैसाखी बनाने के लिए हमने जो दो आधार ढूँढ़ लिये हैं, वे हमारी असमर्थता के दयनीय विज्ञापन मात्र हैं। एक ओर हम बहुत अलंकृत भाषा और ओज भरे स्वर में संसार को सुनाते रहते हैं कि व्यावहारिक जीवन में काम न आने पर भी हमारे भव्य आदर्श, सुन्दर सिद्धान्त और सुनहले स्वप्न जीवन की समृद्धि बढ़ाते हैं और दूसरी ओर दबे कण्ठ और अस्फुट शब्दों में स्वीकार करते रहते हैं कि परिस्थितियों की विषमता ने ही हमें दो भिन्न प्रकार के जीवन वहन करने पर बाध्य कर दिया है।

हमारा बौद्धिक ऐश्वर्य्य और मानसिक वैभव जीवन का अक्षय वरदान है; परन्तु जब हम इसे व्यक्त जगत् की विषमताओं के समर्थन के लिए खड़ा करने लगते हैं, तब यह हमारी असंख्य त्रुटियों और दुर्बलताओं का सफल वकील बनकर ही रह जाता है। फिर उसका समर्थन पाकर हमारे बाह्य जीवन की विषमताएँ अमरबेल के समान फैलने लगती हैं और व्यक्त जगत् की सीमाओं से मुक्त होकर हमारे स्वप्न, आदर्श और सिद्धान्त अशरीरी बनते रहते हैं।

वह सत्य जो हमारे असत्य के समर्थन में काम आता है,

मिथ्या से सहस्रगुण अधिक कुत्सित है। उस डाकू की अनैतिकता से, जो केवल पशुता का सम्बल लिये हुए है, उस सूदखोर महाजन की नैतिकता अधिक भयानक है, जो धर्म के ऊँचे न्यायासन पर बैठकर लुटेरेपन का समर्थन करने का साहस रखती है। नग्न पशुता को मनुष्य के चरम विकास तक पहुँचा देना सहज है; परन्तु उस दिव्यता को, जो पशु के लिए आवरण बन चुकी है, बदलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

इस व्यापक नियम को जाने बिना, हम अपने जीवन को ऐसे दो भिन्न पक्षों में विभाजित कर बैठते हैं, जिनकी सन्धि यदा-कदा अवसरवाद में ही सम्भव हो सकती है। जब तक हम इन पक्षों को एक नहीं कर लेंगे, तब तक हमारी गति कुण्ठित रहेगी और जब तक हम अपने बाह्य जीवन को अन्तर्जगत् का महाभाष्य नहीं बना सकते, तब तक उनकी एकता की कामना दुराशामात्र है।

परिस्थितियों का प्रश्न, उनकी विषमता से अधिक हमारी दुर्बलता से सम्बन्ध रखता है। युग विशेष में जीवन के पास कितना खरा सोना है, इसकी एकमात्र परीक्षक उस युग की परिस्थितियाँ ही रहेंगी। जो अपने युग का हलाहल पीकर उसे अमृत नहीं बना सकती, उस जाति की मृत्यु तो निश्चित ही है। फिर परिस्थितियों का परिवर्तनमात्र, जीवन में आमूल परिवर्तन लाने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि उसके लिए परिस्थितियों की अनुकूलता के साथ ही जीवन का विकासोन्मुख आवेग भी अपेक्षित रहता है। राज्यच्युत होने मात्र से ही कोई सम्राट् त्यागी

साधक नहीं बन जाता, क्योंकि उस स्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य ही नहीं, मानसिक परिवर्तन भी आवश्यक है। कठोर विधानों से घिरे रहने के कारण चोरी करने में असमर्थ व्यक्ति धर्मप्राण संयमी नहीं हो जाता, क्योंकि वह गुण बाह्य बंधनों से अधिक हृदय के परिष्कार पर निर्भर रहेगा।

व्यष्टि से लेकर समष्टि तक ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं, जब जीवन के प्रवाह ने कण-कण जोड़कर परिस्थितियों के शिलाखण्ड बनाये और फिर तिल-तिल कर उन्हें बहा दिया।

सभ्यता में हमसे भी वृद्ध चीन की परिस्थितियाँ पहले नहीं बदली; पर जब उसके जीवन की गति प्रखरतम हो उठी, तब युग-युगान्तर से पुञ्जीभूत रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों के बादल फटने लगे और कठोर परिस्थितियों का रोकनेवाला क्षितिज भी मार्ग बनाने लगा। दूसरी ओर जीवन-शक्ति के नितान्त अभाव के कारण ही फरासीसी जाति अनुकूल परिस्थितियों में भी विकास-पथ पर न बढ़ सकी और अन्त में जीवन के सामान्य नियम के अनुसार उसे अतीत युग का सञ्चित गौरव भी हार जाना पड़ा, जो नव-निर्माण की सुदृढ़ नींव बन सकता था।

पर्वत हट-हट कर नदी के लिए राह नहीं बनाते और पृथ्वी विषम भागों को भर-भर कर जल को समतल नहीं देती। उसका प्रवाह ही पर्वतों को चीरता, विषम भूभागों में अपनी समता की रक्षा करता और कूलों का अटूट क्रम रचता हुआ अपना पथ और अपनी दिशा बना लेता है। तट पर गूँजते हुए स्तुति के स्वरों से समुद्र पर सेतु नहीं बन सकता; किंतु उसकी रचना

उस शक्ति से सम्भव हो सकी, जिसके इंगित की उपेक्षा न जल की अतल गहराई कर सकती थी और न चट्टानों की गुरुता।

बाह्य जीवन की विषम परिस्थितियों को अपनी बेड़ियाँ बना कर हम विकास-पथ पर चल ही नहीं सकते, क्योंकि उस दशा में वे हमारी गति को रुद्ध कर सकती हैं। निर्माण-युग में उनका इतना ही उपयोग है कि वे जीवन के कोमल और उजले स्वर्ण को परखने के लिए काली और कठोर कसौटी बन सकें। यदि हमारे रंगबिरंगे स्वप्न, सुनहले-रुपहले आदर्श और रूप-अरूप सिद्धान्त इस कसौटी पर नहीं ठहर सकते, तब उनमें खरेपन का अभाव निश्चित है।

पिछले युगों में मनुष्य का मूल्य उसके सिद्धान्त की व्यापकता से आँका जाता था ; परन्तु आज के व्यक्ति-प्रधान युग में सिद्धान्त की गुरुता मनुष्य के जीवन की गहराई में ही नापी जा सकती है। आज तो प्रत्येक व्यक्ति एक संस्था है। उसकी प्रत्येक साँस जीवित स्वप्न है, उसका प्रत्येक शब्द बोलता आदर्श है और उसका प्रत्येक कार्य साकार सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में स्वच्छ आकाश जैसे व्यापक सत्य को चाहे कोई न देखे ; पर असत्य के रंगीन बादल सब की दृष्टि को आकर्षित कर सकते हैं। इस युग में जीवन के साथ हमारा मिथ्याचार कितनी व्यापकता के साथ भयानक हो सकता है, इसकी यदि एक बार हम कल्पना कर सकें, तो हमारे निर्माण के अनेक प्रश्न सुलझ जावें।

# स्वर्ग का एक कोना

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर अपने कर्त्तव्य की गुरुता से निस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए और आकाश में भी धरातल के समान मार्ग बना देने वाले सफेदे के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रान्ति जब कुछ कम हुई, तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था, जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है; परन्तु नाम-धाम नहीं याद आता।

उस सजीव सौन्दर्य में एक अद्‌भुत निस्पन्दता थी, जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगने वाले सौन्दर्य से भिन्न किये दे रही थी।

चारों ओर से नीले आकाश को खींच कर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण बादलों के घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप में जगमगाती असंख्य चांदी सी रेखाओं के समूह के अतिरिक्त उनमे और कोई पर्वत का लक्षण दिखाई न देता था। जान पड़ता था कि किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणों में रुपहले रंग में तूलिका डुबाकर नीले धरातल पर इधर-उधर फेर दी है।

जहाँ तक दृष्टि जाती थी पृथ्वी अश्रुमुखी ही दिखाई पड़ती थी। जल की इतनी अधिकता हमारे यहाँ वर्षा के अतिरिक्त कभी देखने में नहीं आती; परन्तु उस समय के धरातल और यहाँ के धरातल में उतना ही अन्तर है, जितना धुले हुए सजल मुख और आँसू भरी आँखों में। मार्ग इतना सूखा था कि धूल उड़ रही थी; परन्तु उसके दोनों किनारे सजल थे, जिनमें कहीं-कहीं कमल की आकृति वाले छोटे फूल कुछ मीलित और कुछ अर्ध-मीलित दशा में झूम रहे थे।

रावलपिन्डी से २०० मील मोटर में चलने से शरीर अवसन्न हो ही रहा था, उस पर चारों ओर बिखरी हुई अभिनव सुषमा और संगीत के आरोह-अवरोह की तरह चढ़ाव-उतार वाले समीर की सरसर ने मन को भी ऐसा विमूर्च्छित-सा कर दिया कि श्रीनगर में बद्रिकाश्रम पहुँच कर बड़ी कठिनता से स्वप्न और सत्य में अन्तर जान पड़ा। वह आश्रम जहाँ हाउस बोट में जाने तक हमारे ठहरने का प्रबन्ध था, सहज ही किसी जन्तुशाला का स्मरण करा देता था। कारण, वहाँ अनेक प्रान्तों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी विशेषताओं के प्रदर्शन में दत्तचित्त थे। कहीं कोई पंजाबी युवती अपने वीरवेश में गर्व से मस्तक उन्नत किये देखने वालों को चुनौती-सी देती घूम रही थी। कहीं संयुक्त प्रान्त की कोई प्राचीना घूँघट निकाले इस प्रकार संकोच और भय से सिमटी खड़ी थी, मानों सब उसी के लज्जा रूपी कोष पर आक्रमण करने को तुले हुए हैं और वह उसे छिपाने के लिए पृथ्वी से स्थान माँग रही है। कहीं कोई महाराष्ट्र सज्जन शिखा का गुरु भार सिर

पर धारण किये लकड़ियों को धोते हुए दूसरों के कौतूहल का कारण बन रहे थे। कहीं कोई धर्म-दिग्गज धर्मपालन और उदर-पूर्ति में कौन श्रेष्ठ है, इस समस्या के समाधान में तत्पर थे। प्रकृति की चंचलता की कमी की पूर्ति मनुष्य में हो रही थी।

अधिकारियों ने हमारे कमरे, नौकर आदि की जैसी सुव्यवस्था थोड़े समय में कर दी, वह सराहने योग्य थी; परन्तु वहाँ के वास्तविक जीवन का परिचय तो हमें अपने हाउसबोट में जाकर ही मिल सका। नीले आकाश की छाया से नीलाभ झेलम के जल में वे रंगीन जलयान वर्षा से धुले आकाश में इन्द्रधनुष की स्मृति दिलाते रहते थे।

जिसने इस प्रकार तरंगों के स्पन्दित हृदय पर अछोर अन्त-रिक्ष के नीचे रहने का इतना सुन्दर साधन ढूँढ़ निकाला, उसके पास अवश्य ही बड़ा कवित्वमय हृदय रहा होगा। जीना सब जानते हैं और सौन्दर्य से भी सबका परिचय रहता है; परन्तु सौन्दर्य में जीना किसी कलाकार का ही काम है।

हमारे पानी पर बने घर में एक सुन्दर सजी हुई बैठक, सब सुख के साधनों से युक्त दो शयनगृह, एक भोजनालय और दो स्नानागार थे। भोजन दूसरे बोट में बनता था, जिसके आधे भाग में हमारा माँझी सुल्ताना सपत्नीक, चीनी की पुतली-सी कन्या नूरी और पुत्र महमूद के साथ अपना छोटा-सा संसार बसाये हुए था। साथ ही एक तितली जैसा शिकारा भी था, जिसे पान की आकृति वाली छोटी-सी पतवार से चला कर छोटा महमूद दोनों कूलों को एक करता रहता था।

हम रात को लहरों में झूलते हुए, खुली छत पर बैठ कर तट के एक एक दीपक को पानी में अनेक बनते हुए तब तक देखते ही रह जाते थे, जब तक नींद भरी पलकें बन्द होने के लिए सत्याग्रह न करने लगती थीं। और फिर सवेरे, तब तक कोई काम न हो पाता था जब तक जल में सफेद बादलों की काली छाया अरुण हो कर फिर सुनहरी न हो उठती थी। उस फूलों के देश पर रुपहले-सुनहले रात-दिन बारी-बारी से पहरा देने आते जान पड़ते थे। वहाँ के असंख्य फूलों में दो जंगली फूल मज़ारपोश और लालपोश मुझे बहुत प्रिय लगे।

मज़ारपोश अधिक से अधिक संख्या में समाधि पर फूल कर अपनी नीली अधखुली पंखड़ियों से, अस्थि-पंजर को ढकनेवाली धूलि को नन्दन बना देता है और लालपोश हरे लहलहाते खेतों में अपने आप उत्पन्न हो कर अपने गहरे लाल रंग के कारण हरित धरातल पर जड़े पद्मराग की स्मृति दिला जाता है।

फूलों के अतिरिक्त उस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे। उनकी मज़ारपोश जैसी आँखें-लालपोश जैसे होंठ, हिम जैसा वर्ण और धूलि जैसे मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अंग बनाये रखते हैं। अपनी सारी मलिनता में कैसे प्रिय लगते हैं वे! मार्ग में चलते-चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता है। 'सलाम जनाब पासा' कह कर विश्वास भरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता है। उसकी गम्भीरता देख कर यही प्रतीत होता था कि उसने सलाम कर के अपने गुरुतम कर्त्तव्य का पालन कर दिया है, अब उसे सुनने वाले के कर्त्तव्य-

पालन की प्रतीक्षा है। शीत ने इन मोम के पुतलों को अंगारों में पाला है और दरिद्रता ने पाषाणों में। प्राय: सवेरे कुछ सुन्दर-सुन्दर बालक नगे पैर पानी में करम का साग लेने दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिकारा लिये 'सलाम जनाव, पार पहुँचाएगा' पुकारते हुए। ऐसे ही कम अवस्था वाले बालकों को कारखानों में शाल, रेशम आदि पर गम्भीर भाव से सुन्दर बेल-बूटे बनाते देख कर हमे आश्चर्य हुआ।

काश्मीरी स्त्रियाँ भी बालकों के समान ही सरल जान पड़ी। उनके मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण-भर में आँखों में झलक जाती थी और क्षण-भर में होंठों मे। वे एड़ी चूमता हुआ कुरता और उसके नीचे पायजामा पहन कर एक छोटी-सी ओढ़नी को कभी-कभी बीच से तह कर के तिकोना बना कर और कभी-कभी वैसे ही सिर पर डाले रहती हैं। प्राय: मुसलमान स्त्रियाँ ओढ़नी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाये रहती हैं, जो देखने में सुन्दर लगती है।

प्रकृति ने इन्हें इतना भव्य रूप दिया; परन्तु निष्ठुर भाग्य ने दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे मलिन अभव्य घरों में प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्रमात्र देकर इनके सौन्दर्य का उपहास कर डाला और हृदयहीन विदेशियों ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध से इनके अमूल्य जीवन को मोल ले कर, मूल्यरहित बना दिया। प्राय: इतर श्रेणी की स्त्रियाँ मुझे कागज में लपेटी कलियों की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पड़ीं। छोटी-छोटी बालिकाओं की मन्द स्मित में याचना, प्रौढ़ाओं की फीकी हँसी में

विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन में असफल वात्सल्य झाँकता रहता था।

इसके अतिरिक्त सफेद दुग्धफेनिभ दाढ़ी वाले, आँखों में पुरातन चश्मा चढ़ाये, पतली उँगलियों में सुई दबा कर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपसियों जैसे ही भव्य लगे। इस सुन्दर हिमराशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँच कर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काठ जैसी नीरस वस्तु को सुन्दर आकृति दे कर सरस बना रहा था। कोई कागज कूट कर बनाई वस्तुओं पर छोटी तूलिका से रंग भर-भर कर उसमें प्राण का संचार कर रहा था और कोई रंग-बिरंगे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किये दे रहा था। सारांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी ईश्वर ने जैसा बनाया है, वैसा नहीं रहने देना चाहता था।

काश्मीर के सौन्दर्य-कोष में सब से मूल्यवान मणि वहाँ के शालामार और निशातबाग माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और जहाँगीर की स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य। शालामार में बैठ कर तो अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौन्दर्य प्रतिमा का प्रमोदवन रह चुका है, जिसे सिंहासन तक पहुँचाने के लिए उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई, तब उसकी गुरुता से संसार काँप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाये हुए चिनार के

पालन की प्रतीक्षा है। शीत ने इन मोम के पुतलों को अंगारों में पाला है और दरिद्रता ने पाषाणों में। प्रायः सवेरे कुछ सुन्दर-सुन्दर बालक नंगे पैर पानी में करम का साग लेने दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिकारा लिये 'सलाम जनाब, पार पहुँचाएगा' पुकारते हुए। ऐसे ही कम अवस्था वाले बालकों को कारखानों में शाल, रेशम आदि पर गम्भीर भाव से सुन्दर बेल-बूटे बनाते देख कर हमें आश्चर्य हुआ।

काश्मीरी स्त्रियाँ भी बालकों के समान ही सरल जान पड़ी। उनके मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण-भर में आँखों में झलक जाती थी और क्षण-भर में होंठों में। वे एड़ी चूमता हुआ कुरता और उसके नीचे पायजामा पहन कर एक छोटी-सी ओढ़नी को कभी कभी बीच से तह कर के तिकोना बना कर और कभी-कभी वैसे ही सिर पर डाले रहती हैं। प्रायः मुसलमान स्त्रियाँ ओढ़नी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाये रहती हैं, जो देखने में सुन्दर लगती है।

प्रकृति ने इन्हें इतना भव्य रूप दिया; परन्तु निष्ठुर भाग्य ने दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे मलिन अभव्य घरों में प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्रमात्र देकर इनके सौन्दर्य का उपहास कर डाला और हृदयहीन विदेशियों ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध से इनके अमूल्य जीवन को मोल ले कर, मूल्यरहित बना दिया। प्रायः इतर श्रेणी की स्त्रियाँ मुझे कागज में लपेटी कलियों की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पड़ी। छोटी-छोटी बालि-काओं की मन्द स्मित में याचना, प्रौढ़ाओं की फीकी हँसी में

विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन में असफल वात्सल्य झाँकता रहता था।

इसके अतिरिक्त सफेद दुग्धफेननिभ दाढ़ी वाले, आँखों में पुरातन चश्मा चढ़ाये, पतली उँगलियों में सुई दबा कर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपस्वियों जैसे ही भव्य लगे। इस सुन्दर हिमराशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँच कर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काठ जैसी नीरस वस्तु को सुन्दर आकृति दे कर सरस बना रहा था। कोई कागज कूट कर बनाई वस्तुओं पर छोटी तूलिका से रंग भर-भर कर उसमें प्राण का संचार कर रहा था और कोई रंग-बिरंगे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किये दे रहा था। सारांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी ईश्वर ने जैसा बनाया है, वैसा नहीं रहने देना चाहता था।

काश्मीर के सौन्दर्य-कोष में सब से मूल्यवान मणि वहाँ के शालामार और निशातबाग माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और जहाँगीर की स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य। शालामार में बैठ कर तो अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौन्दर्य प्रतिमा का प्रमोदवन रह चुका है, जिसे सिंहासन तक पहुँचाने के लिए उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई, तब उसकी गुरुता से संसार काँप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाये हुए चिनार के

वृक्ष बोल सकते, यदि आकाश तक अपने सजल उच्छ्वासों को पहुँचाने वाले फौवारे बना सकते तो न जाने कौन सी करुण-मधुर कहानी सुनने को मिलती।

जिन रजकणों पर कभी रूपसियों के रागरंजित सुकोमल चरणों का न्यास भी धीरे-धीरे होता था, उन पर जब यात्रियों के भारी जूतों के शब्द से युक्त कठोर पैर पड़ते थे, तब लगता था कि वे पीड़ा से कराह उठे हैं।

किंवदन्ती है कि पहले शालामार का निर्माण और नामकरण श्रीनगर बसाने वाले द्वितीय प्रवरसेन द्वारा हुआ था। फिर उसी के भग्नावशेष पर जहाँगीर ने अपने प्रमोद उद्यान की नींव डाली।

अब तो उसके अनन्त प्रतीक्षा से जीर्ण वृक्षों की पंक्ति में, किसी परिचित पदध्वनि को सुनने के लिए निस्तब्ध पल्लवों में भू पर क्षणिक वितान बना देने वाले फौवारों के सीकरों में और भंगिमामय प्रपातों में पारस्य देश की कला की अमिट छाप है। हमारे, अजस्र प्रवाहिनी सरिताओं से निरन्तर सिक्त देश ने, जल को इतने बन्धनों में बाँध कर नर्तकी के समान लास सिखाने की आवश्यकता नहीं समझी थी; परन्तु मुसलमान शासकों के प्रभाव ने हमारे सजीव चित्र से उपवनों को सजल विविधता-युक्त बना दिया। जिस समय फौवारे सहस्रों जल-रेखाओं में विभाजित हो कर आकाश में उड़ जाने की विफल चेष्टा में अपने तरल हृदय को खंड-खंड कर पृथ्वी पर लौट आते हैं, सूखे प्रपातों से अश्रुपात होने लगता है, उस समय पानी के बीच में बनी हुई राजसी काले पत्थर की चौकी पर

किसी अनन्त अभाव की छाया पड़ कर उसे और भी अधिक कालिमामय कर देती है।

इस झील की दूसरी ओर सौन्दर्यमयी नूरजहाँ के भाई आसफअली का, पहाड़ के हृदय से चरण तक विस्तृत निशातबाग है जिसकी क्रमबद्ध ऊँचाई के अनुसार निर्मित १२ चबूतरों के बीच से अनेक प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर से, झरते हुए प्रपात अपना उपमान नहीं रखते। इसकी सजलता में शालामार की सी प्यास छिपी नहीं जान पड़ती, वरन् एक प्रकार का निर्वेद मनुष्य को तन्मय-सा कर देता है। मनुष्य ने यहाँ प्रकृति की कला मे अपनी कला इस प्रकार मिला दी है कि एक के अन्त और दूसरी के आरम्भ के बीच में रेखा खींचना कठिन है। अतः हमें प्रत्येक क्षण एक का अनुभव और दूसरे का स्मरण होता रहता है। इसके विपरीत अन्तःपुर की सजीव प्रतिमाओं के लिए, इन प्रतिमाओं के आराधक और आराध्य बादशाह के लिए तथा इनके कौतुक से विस्मित सर्वसाधारण के लिए, तीन भागों में विभक्त शालामार के पत्ते-पत्ते में मनुष्य की युगों से प्यासी लालसाओं की अस्पष्ट छाया, मदिरा की अतृप्त मादकता लिये झूमती-सी ज्ञात होती है परन्तु दोनों ही अपूर्व हैं इसमें सन्देह नहीं।

इस चिर नवीन स्वर्ग ने, सुन्दर शरीर के मर्म में लगे हुए व्रण के समान अपने हृदय में कैसा नरक पाल रक्खा है, यह कभी फिर कहने योग्य करुण कहानी है।

# कला और हमारा चित्रमय साहित्य

जिस प्रकार मानव-शरीर का जितना बाह्य अंश हम अपने चक्षुओं से देख सकते हैं, उतना उसे पूर्ण नही बना पाते; उसके हृदय, मस्तिष्क आदि अनेक हमारी दृष्टि से छिपे अंग उसे पूर्णता दे कर कार्य के योग्य बनाते है, उसी प्रकार देश काल की सीमा मे बँधा हुआ, परिस्थितियों में ढला हुआ मनुष्य का जितना जीवन हमारे सम्मुख रहता है, उतना ही उसकी पूर्णता के लिए पर्याप्त नहीं होता। उसकी पूर्णता के लिए हमें केवल चलने, काम करने या देखने वाले सीमित जीवन को ही नहीं समझना पड़ेगा, वरन् कल्पना-लोक में विचरते, स्वप्न देखते तथा सत्य को खोजते हुए जीवन को भी जानना होगा।

मनुष्य का जीवन रागात्मक तथा इतिवृत्तात्मक अनुभूतियो का संघात कहा जा सकता है जिनमें एक उसे व्यावहारिक संसार के लिए उपयोगी बनाती है और दूसरी एक अलौकिकता की सृष्टि कर कला को जन्म देती है, जो व्यावहारिक जीवन की रुक्षता को सरस बनाती हुई उसके सम्मुख विकास का सुन्दरतम आदर्श उपस्थित करती रहती है। वास्तव में मनुष्य में सत्य का ऐसा एक क्रियात्मक और रहस्यमय अंश छिपा हुआ है, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए सुन्दरतम साधन खोजता रहता है और इस

सत्य का सौन्दर्य में रागात्मक प्रकाशन ही कला के सत्यं शिव सुन्दरं की परिभाषा हो सकता है।

कलाकार का लक्ष्य जीवन की कुरूपता तथा सौन्दर्य, दुर्बलता तथा शक्ति, पूर्णता और अपूर्णता सब की सामंजस्य-पूर्ण रागात्मक अभिव्यक्ति है और उसकी चरम सफलता जीवन तथा विश्व में छिपे हुए सत्य को सब ओर से स्पर्श कर लेने मे निहित है। हम बाह्य विश्व को दो दृष्टिकोणों से देख सकते है—प्राकृतिक और मानवीय; एक के द्वारा हम वस्तुओं के भौतिक उपकरणों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को भी उन्हीं की श्रेणी मे सम्मिलित कर लेते है, दूसरे से विश्व के विभिन्न रूपों मे व्यक्तित्व का आरोपण कर उन्हें भी मनुष्य के सगी के रूप मे स्वीकार कर उनके सौन्दर्य पर मुग्ध और अभ-व्यता पर खिन्न होने लगते है। पहला दृष्टिकोण वैज्ञानिक तथा दार्शनिक से सम्बन्ध रखता है और संसार की सारी सुषमा मे कंकाल दिखा कर उसकी व्यर्थता के प्रति हमारे हृदय मे विराग उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। दूसरा कलाकार का है, जो विश्व की अपूर्णता को अपनी कल्पना से पूर्ण और उसके सौन्दर्य के आवरण में सत्य की झाँकी दिखा हमारे हृदय मे आनन्द उत्पन्न कर देने में समर्थ है।

सत्य के अन्वेषक दोनो है; परन्तु एक परिचित वस्तु को भी अपरिचित बना कर उससे दूरी की भावना को जन्म देता है; दूसरा परिचित को परिचिततम बना कर उसे अपना एक अंश मान लेने पर बाध्य करता है। उदाहरणार्थ—रश्मियों से खेलने के लिए

उत्सुक तरंग-शिशुओं से हमारा निकटतम परिचय है; परन्तु जल को बनाने वाले हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से हम अपरिचित हैं। इसी से एक को हम चाहते हैं तथा दूसरे से अपना ज्ञानकोष बढ़ा कर भी दूर रहना चाहते हैं।

इन्हीं कारणों से कलाकार हमारे जीवन में एक विशेष स्थान रखता है। वह अपनी एकत्रीकरण शक्ति से एक वस्तु की अपूर्णता में दूसरी की पूर्णता मिला कर एक ऐसी नवीन वस्तु का निर्माण कर देता है, जो हमारे लिए सौन्दर्य, शक्ति आदि का अमर आदर्श बन सकती है। इसी से हमारे जीवन के उच्च और सुन्दरतम् आदर्श कलाकारों की ही कृतियाँ रहे हैं।

कलाकार यदि सत्य अर्थों में कलाकार हो, तो वह कल्पना को सौन्दर्यमय आकार देगा, उसमें वास्तविकता का रंग भरेगा और उससे जीवन-संगीत की सुरीली लय की सृष्टि कर लेगा। उसके, कला में साकार आदर्श तलवार की झंझनाहट में नहीं टूटते, बाँसुरी की मादक तान में नहीं बह जाते, मनुष्य की दुर्बलता पर हताश नहीं होते, कुरूपता पर कुंठित नहीं होते और क्षणिक् सौन्दर्य पर चमत्कृत होना भी नहीं जानते। सभी सुगम दुर्गम मार्गों में, सारे सुख दुखों में, सारी फूल शूलमयी परिस्थितियों में कला जीवन की संगिनी रही है और भविष्य में भी रहेगी।

कला, कला के लिए है या जीवन के लिए, यह प्रश्न उत्तर को अपने भीतर ही छिपाये हुए है। कला यदि जीवन की, सौन्दर्य में, सत्य में अभिव्यक्ति है तो भी वह जीवन से सम्बद्ध है। वह यदि जीवन की अपूर्णताओं को पूर्ण करने का प्रयास है तो भी उसके

निकट है और यदि केवल उससे प्रसूत या उसका प्रतिबिम्ब है तो भी उसी की है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि जीवन कला-मय है और कला सजीव, अतः इनका परस्पर अपेक्षित अस्तित्व अनपेक्षित बन कर नहीं जी पाता, चाहे निर्जीव प्रतिमा बन कर रह सके। प्रायः कार्य और कारण या उपकरण और उससे बनी वस्तु में रूप, रंग और आकार की भिन्नता हो सकती है, प्रकृति की नहीं; परन्तु हमारी कला इस कार्य-कारण सम्बन्धी नियम के अनुसार नहीं चलती, कारण वह क्षणिक जीवन से प्रसूत हो कर भी अमर है। वह हमारे नीरस जीवन को सरस बनाने में निराश्रय हृदय को अवलम्ब देने में और हमारे साधारण जीवन के लिए आदर्श स्थापित करने में सदा से समर्थ रही है।

हमारा जीवन अपनी उच्चतम, प्रियतम भावनाओं को, कल्पनाओं को उसमें साकार करता है और फिर उस आकार के अनुसार अपने आपको बनाने का प्रयत्न करता रहता है।

कलाओं में काव्य जैसी श्रव्य कलाओं की अपेक्षा चित्र जैसी दृश्य कलाओं की ओर मनुष्य स्वभावतः अधिक आकर्षित रहता है। मूर्तिकला, चित्रकला आदि दृश्य कलाएँ एक ही साथ हमारे नेत्र, स्पर्श और मन की तृप्ति कर सकती थीं, इसी से वे हमें अधिक सुगम और तात्कालिक आनन्ददायिनी जान पड़ीं। विशेष कर चित्रकला, मूर्त्तिकला के काठिन्य से रहित और रंगों से सजीव होने के कारण अधिक आदृत हो सकी। यह बोधगम्य इतनी अधिक है कि शैशव में कठिन से कठिन ज्ञान इसके द्वारा सहज हो

जाता है। यह जीवन के निकट इतनी है कि बालक पहले सारे प्रत्यक्ष ज्ञान को टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में बाँधने का प्रयत्न किये बिना नहीं रहता। प्राचीनकाल में इसने मनुष्य के निकट कितना सम्मान पाया, इसका निदर्शन अजन्ता तथा एलोरा के गह्वरों में अंकित चित्र हैं। पुरातन काल की सभी पौराणिक कथाएँ चाहे विरही यक्ष से सम्बन्ध रखती हों, चाहे राजा दुष्यन्त से. . बिना इस कला के मानो पूर्ण ही न होती थीं।

कला मनुष्य से सम्बन्ध रखती है और मनुष्य को किसी विशेष वातावरण में पल कर बड़ा होना पड़ता है जिसके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो सकना उसके लिए सम्भव नहीं। यह वातावरण सामाजिक परिस्थितियों से और सामाजिक परिस्थितियाँ प्रायः राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित हो कर विशेष रूपरेखा पाती है। परन्तु, यह निर्विवाद है कि प्रत्येक परिस्थिति अपनी समस्याओं से ऊपर उठ सकने वाले कलाकारों को उत्पन्न कर लेती है। एक युग की विशेष परिस्थितियाँ और उनके अनुरूप निर्मित आदर्श दूसरे युग में ठीक उसी रूप में नहीं लौटते और यदि लौटे भी तो विकास की गति में बाधा ही बन कर लौटेंगे। उपयोगी बने रहने के लिए उन्हें पुरानी आत्मा को नये कलेवर में छिपाकर अवतीर्ण होना पड़ता रहा है। जिस समय शत्रु सम्मुख थे, हाथ में असि थी, उस समय कला का आह्वान हृदय की सारी रौद्रता और निष्ठुरता जगाने के लिए ही हुआ था। उसके उपरान्त जब पराजित जाति हताश थी, अपमान के शूल से बिंधा हृदय लिये तड़प रही थी, उस समय कला एक हाथ में भक्ति की सुधा

और दूसरे में विलास की मदिरा लेकर अवतीर्ण हुई। कोई तन्मयता से अपने आपको भूला और किसी ने नशे में वास्तविकता डुबा दी। इसी प्रकार समय की लहरों से परिस्थितियों और परिस्थितियों से कला में परिवर्तन आते रहे, जिन पर उनके युग विशेष की अमिट छाप थी। हमारे वर्तमान युग की भी विशेष परिस्थितियाँ हैं; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कला इस युग में सुधा और मदिरा दोनों ले कर उतरी है या केवल मदिरा।

अन्य कलाओं के समान चित्रकला ने केवल विशेष उन्नति ही नहीं की, वरन् वह उत्तरोत्तर व्यापक से व्यापकतर होती जा रही है। विशेष कर हमारे प्रौढ़ पत्र-साहित्य ने बालक के समान चित्र-कला की उँगली पकड़ कर इस प्रकार चलना आरम्भ किया है कि उसे अब चित्र-साहित्य के नाम से पुकारना अधिक उपयुक्त होगा।

साप्ताहिक हो चाहे मासिक, सभी पत्रों को अच्छी से अच्छी पाठ्य सामग्री के रहते हुए भी सस्ते उत्तेजक चित्रों के बिना मृत्यु चित्रित दिखाई देने लगती है। जनता की विषम रुचि, चित्रकारों की दुरवस्था, चित्रों का सस्तापन, छापने की सुविधा सब ने मिल कर इस कला के आदर्श की प्रतिमा को जैसे तिल तिल कर के तोड़ना आरम्भ किया है। उसे देखते हुए यह अनुमान कर लेना असंगत नहीं कि कुछ दिनों में उसे पूर्ण निर्वाण मिले बिना न रहेगा।

इसमें जो न्यूनता शेष रह सकती थी, वह चलचित्रों की

जाता है। यह जीवन के निकट इतनी है कि बालक पहले सारे प्रत्यक्ष ज्ञान को टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में बाँधने का प्रयत्न किये बिना नहीं रहता। प्राचीनकाल में इसने मनुष्य के निकट कितना सम्मान पाया, इसका निदर्शन अजन्ता तथा एलोरा के गह्वरों में अंकित चित्र है। पुरातन काल की सभी पौराणिक कथाएँ चाहे विरही यक्ष से सम्बन्ध रखती हों, चाहे राजा दुष्यन्त से . . बिना इस कला के मानो पूर्ण ही न होती थीं।

कला मनुष्य से सम्बन्ध रखती है और मनुष्य को किसी विशेष वातावरण में पल कर बड़ा होना पड़ता है जिसके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो सकना उसके लिए सम्भव नहीं। यह वातावरण सामाजिक परिस्थितियों से और सामाजिक परिस्थितियाँ प्रायः राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावित हो कर विशेष रूपरेखा पाती हैं। परन्तु, यह निर्विवाद है कि प्रत्येक परिस्थिति अपनी समस्याओं से ऊपर उठ सकने वाले कलाकारों को उत्पन्न कर लेती है। एक युग की विशेष परिस्थितियाँ और उनके अनुरूप निर्मित आदर्श दूसरे युग में ठीक उसी रूप में नहीं लौटते और यदि लौटे भी तो विकास की गति में बाधा ही बन कर लौटेंगे। उपयोगी बने रहने के लिए उन्हें पुरानी आत्मा को नये कलेवर में छिपाकर अवतीर्ण होना पड़ता रहा है। जिस समय शत्रु सम्मुख थे, हाथ में असि थी, उस समय कला का आह्वान हृदय की सारी रौद्रता और निष्ठुरता जगाने के लिए ही हुआ था। उसके उपरान्त जब पराजित जाति हताश थी, अपमान के शूल से बिधा हृदय लिये तड़प रही थी, उस समय कला एक हाथ में भक्ति की सुधा

और दूसरे में विलास की मदिरा लेकर अवतीर्ण हुई। कोई तन्मयता में अपने आपको भूला और किसी ने नशे में वास्तविकता डुबा दी। इसी प्रकार समय की लहरों से परिस्थितियों और परिस्थितियों से कला में परिवर्तन आते रहे, जिन पर उनके युग विशेष की अमिट छाप थी। हमारे वर्तमान युग की भी विशेष परिस्थितियाँ हैं; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कला इस युग में सुधा और मदिरा दोनों ले कर उतरी है या केवल मदिरा।

अन्य कलाओं के समान चित्रकला ने केवल विशेष उन्नति ही नहीं की, वरन् वह उत्तरोत्तर व्यापक से व्यापकतर होती जा रही है। विशेष कर हमारे प्रौढ़ पत्र-साहित्य ने बालक के समान चित्र-कला की उँगली पकड़ कर इस प्रकार चलना आरम्भ किया है कि उसे अब चित्र-साहित्य के नाम से पुकारना अधिक उपयुक्त होगा।

साप्ताहिक हो चाहे मासिक, सभी पत्रों को अच्छी से अच्छी पाठ्य सामग्री के रहते हुए भी सस्ते उत्तेजक चित्रों के बिना मृत्यु चित्रित दिखाई देने लगती है। जनता की विषम रुचि, चित्रकारों की दुरवस्था, चित्रों का सस्तापन, छापने की सुविधा, सब ने मिल कर इस कला के आदर्श की प्रतिमा को जैसे तिल तिल कर के तोड़ना आरम्भ किया है। उसे देखते हुए यह अनुमान कर लेना असंगत नहीं कि कुछ दिनों में उसे पूर्ण निर्वाण मिले बिना न रहेगा।

इसमें जो न्यूनता शेष रह सकती थी, वह चलचित्रों की

अभिनेत्रियों और कलाविद् फोटोग्राफर्स ने पूर्ण कर दी है, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी। यदि हम चित्रों की दृष्टि से अपने पत्र-साहित्य के विभाग कर सकें तो वे चार श्रेणियों में रक्खे जा सकते हैं—एक तो वे पत्र जो अपनी सुरुचि और उच्चादर्श के अनुरूप केवल ऐसे ही चित्रों को स्थान देते हैं, जिनका आरम्भ यथार्थवाद और अन्त आदर्शवाद में होता हो, जिनमें किसी प्रकार की कुरुचि और उत्तेजना के प्रवेश के लिए, छोटा-सा रन्ध्र भी न मिल सकता हो। ऐसे चित्र अपनी अपेक्षाकृत न्यूनता के कारण मँहगे और सब के लिए अप्राप्य तो हैं ही, साथ ही उन्हें समझने वाले व्यक्तियों की संख्या भी इनी-गिनी ही रहती है। उनके द्वारा चित्रकला का आदर्श उन्नत हो सकता है, सुन्दर के साथ शिव का संयोग भी हो सकता है; परन्तु उनके द्वारा स्थापित आदर्श तक सर्वसाधारण को ले जा सकना अभी शताब्दियों का कार्य है। ऐसे चित्रों में प्राचीन आदर्शों के साथ नवीन परिवर्तनों का इतना अनुकूल सम्मिलन हुआ है कि यह अपनी विविधता, सजीवता और सौन्दर्य के लिए कलाविदों को सदा प्रिय रहेंगे; परन्तु जब तक यह सब के या अधिक से अधिक संख्या के लिए सुलभ न हो जावें, तब तक इनसे कोई स्थायी उपकार हो सकना कठिन जान पड़ता है।

दूसरे वे हैं जो अपनी संकीर्ण सात्विक वृत्ति की रक्षा के लिए एक विशेष अंग-भंगी से खड़े श्रीकृष्ण, विशेष प्रकार से धनुष धारण किये हुए राम या किसी और देवता के चित्र के अतिरिक्त कुछ और देना, चाहे वह कला का उत्कृष्टतम निदर्शन क्यों न हो,

स्वीकार नहीं करते। इन चित्रों में न सजीवता रहती है न कला, मानो लकड़ी पर एक आकार खोद कर सब स्थानों में छाप दिया हो। मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से, प्रख्यात राम और योगिराज कृष्ण के पराक्रम और ज्ञान को रेखाओं में सजीव कर देने में समर्थ चित्रकार न उन्हें मिलता है और न वे उसे खोजने का कष्ट ही उठाना चाहते हैं। ऐसे चित्रों के आधार पत्र, यदि अपकार करते हैं तो केवल इतना कि कला के आदर्श को अपेक्षाकृत अवनत करके जनसाधारण की रुचि को परिष्कृत नहीं होने देते और यदि उपकार करते हैं तो इतना कि कला और पाठक दोनों को निर्बन्ध नहीं रहने देते।

विषय पर कोई कला निर्भर नहीं रहती। सच्चे चित्रकार की तूलिका भगवान् बुद्ध की चिर शान्त मुद्रा अंकित करके भी धन्य हो सकती है और हल कन्धे पर लेकर घर लौटने वाले कृषक का चित्र बनाकर भी अमर हो सकती है। कलाकार अमरता का विधायक स्वयं हो सकता है; परन्तु तभी, जब उसकी कला उसकी अनवरत साधना में तप-तप कर खरा सोना बनकर निकलती है। ऐसे कलाकारों का अभाव है, यह सत्य नहीं; परन्तु इसमें बहुत कुछ सत्य है कि हम उन्हें न पहचानते हैं और न पहचानने का प्रयत्न करते हैं। फलतः अनधिकारियों के हाथ में पड़कर न तो कला विकसित होती है और न जिनके लिए कला अवतीर्ण हुई है, उनकी रुचि ही विकास पाती है।

तीसरी श्रेणी में वे सचित्र पत्र-पत्रिकाएं रखी जा सकती है, जिन्हें अपने व्यवसाय के अतिरिक्त किसी की चिन्ता नहीं। उन्हे

न कला की उन्नति-अवनति से सम्पर्क रखना है, न जनसाधारण की भलाई-बुराई का विचार करना है, अतः प्राय वे साधारण मनुष्यों की दुर्बलता से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं, उसे दूर करने का नहीं। वैसे तो सारा चित्रजगत् ही स्त्रीमय हो रहा है, परन्तु जिन्हें केवल व्यवसाय की चिन्ता है उनके पत्रों ने तो स्त्रियो की शोचनीय दुर्दशा कर डाली है। जिस चित्रकार को देखिए अस्तव्यस्त या विवस्त्रा युवती का चित्र बना रहा है। उसी की माँग है, फिर परिस्थितियों का दास चित्रकार क्या करे।

युवती का चित्र देना कोई दोष नहीं है, परन्तु उसके पीछे जो एक पाशविक मनोवृत्ति छिपी है, उसी को अमंगलमयी कहना चाहिए। यदि एक चित्रकार हिमालय की चोटी को छूकर रंगों के फव्वारे की तरह विखर जाने वाली किरणों को अंकित करने के लिए विकल हो उठा हो, अशान्त समुद्र की ऊँची-नीची लहरों मे भूल-भूल कर अन्त की ओर जाती हुई छोटी तरणी का चित्र बनाने के लिए उसका हृदय उमड़ आया हो, जर्जर वस्त्र मे लिपटे क्षीण-मलीन बालक का हाथ पकड़ कर पेड़ के नीचे आ बैठने वाली अन्धी भिखारिन का चित्र आँकते-आँकते यदि उसकी तूलिका थक गई हो और सुनहली गोधूली में लौटते हुए श्रान्त कृशकाय कृषक और उसकी रूखे विखरे बालों वाली बालिका का मुख यदि उसके कागज पर उतर आया हो, तो वह युवती का सौन्दर्य भी अंकित करके और अधिक पवित्र हो उठेगा। उसके लिए स्त्री का सौन्दर्य संसार के अखंड सौन्दर्य का एक खंड मात्र है। जब ऐसा नहीं होता और चित्रकार केवल वासना से सूखे

कठवालों के लिए नारी के पून सौन्दर्य को मदिराधारा बनाकर बहाने चलना है तब अवश्य ही उसमें न कला का आदर रह जाता है न स्त्री का। प्राचीन चित्रों में चीरहरण लीला को हम अश्लील समझा करते थे, अब स्वयं ही उसे दूसरे रूपों में दिखाने में भी हम कुंठित नहीं होते।

चौथी श्रेणी मे आने वाली वाक्‌पट सम्बन्धी पत्रिकाओं के अद्‌भुत चित्रों और सुरुचि की छाँह से भी दूर चित्र-परिचयों के विषय में तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कहना चाहिए। यह तो चित्रकार की कल्पना नहीं है।सत्य का प्रतिबिम्ब है। कैसे-कैसे नग्न नृत्य वे कला के नाम पर करा लेते हैं और हम सब असीम धैर्य से देख आते हैं, यह सत्य होकर भी कहानी जैसा लगता है। इस समानता के युग में स्त्री माँगने गई थी अपनी स्वतंत्रता और दे आई इस प्रकार स्त्रीत्व के प्रदर्शन का वचन। बाजार के पोस्टर, दवा के, तैल के विज्ञापन, पत्र-पत्रिकाओं का अधिकांश वाक्‌पट, मंच सब जगह स्त्री का जैसा प्रदर्शन पुरुष करना चाहते हैं अकुंठित भाव मे करते हैं। यदि वह बाधा डालती है तो इन्हीं बीभत्स प्रदर्शनों को स्वाधीनता का चिन्ह बनाकर उसे समझा दिया जाता है। वह स्वयं यह नहीं जानती कि इनसे उसका आदर हो रहा है या अनादर, पहले से अच्छी दशा है या बुरी। वह सोचती है, उसे संसार के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द भाव से आने-जाने का अधिकार मिल गया है, जिसके लिए वह युगों से लालायित थी। जिस जाति ने स्त्रियों की एक बड़ी संख्या को समाज, धर्म आदि के सब बन्धनों से केवल अपनी स्वच्छन्द

प्रवृत्तियों की परिचर्या कराने के लिए ही, मुक्त कर रखा है, वह स्त्रियों की वास्तविक स्वाधीनता का मर्म कितना जानती होगी, यह कहना कठिन है।

केवल सिद्धान्त रूप से या स्त्रियों के प्रति निरादर का विचार कर ऐसे चित्र और प्रदर्शन बहिष्कार के योग्य न समझे जावें, तो भी समाज के नवयुवकों की मनोवृत्तियों पर पड़ने वाला उनका प्रभाव उन्हें आपत्तिजनक प्रमाणित किये बिना न रहेगा। अवश्य ही प्राचीन युग के, एकान्त में स्त्री का चित्र भी न देखने देने वाले सिद्धान्त इस बीसवीं सदी के लिए उपयुक्त नहीं होंगे; परन्तु इसके विपरीत एकान्त और कोलाहल दोनों ही में स्त्रीमय जगत् देखना भी हमारे जीवन के लिए उपयुक्त न होगा। एक ओर हम जिन स्त्रियों को समाज का कलंक कहकर बस्ती के एक कोने में फेंक आने को उत्सुक हैं, दूसरी ओर आकर्षक परिचय दे कर उन्हीं के चित्र छापकर उसी रुचि को प्रश्रय देने में भी हमें संकोच का कारण नहीं दिखाई देता, यही विचित्रता है। संजीवनी जड़ी तो आज तक किसी को नही ज्ञात हुई; परन्तु मृत्यु को तत्क्षण उपस्थित कर देने वाली विषबूटियों को सब जानते पहचानते हैं। इस मुमूर्षु जाति के आलसी और अकर्मण्य, युवकों के रक्त में जीवन शक्ति पहुचाने का उपाय तो ढूँढ़ने वाले ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ही नष्ट हो गये, परन्तु इस तन्द्रा को मृत्यु के समान स्थिर कर देने वाली ज्वालामुखी मदिरा बिना खोजे ही सब को प्राप्त हो गई।

आज का बालक क्या देखता, क्या समझता और किस प्रकार अपने आगामी जीवन की रूपरेखा निर्धारित कर लेता है, इसका

यदि निरीक्षण किया जावे, तो कदाचित् ही कोई ऐसा कठिन हृदय व्यक्ति होगा, जिसके प्राण न सिहर उठें। जब क्षय के कीटाणुओ के समान विषैली दुर्भावनाओं और अस्वाभाविक वासनाओं के कीटाणु उनके रक्त में, उनके विचारो में और उनकी कल्पनाओ मे बस जाते हैं, तब उनका स्वस्थ युवक हो सकना सम्भव नहीं। चित्र जिस प्रकार बालक की मानसिक वृत्तियों का केन्द्र बन सकता है, उसके मस्तिष्क और मन दोनों पर स्थायी सस्कार छोड़ जाता है; उस प्रकार कोई और कला नहीं कर सकती। अतः यदि हम अपनी चित्रों की सृष्टि की रचना मे विशेष सतर्क न रह सके, तो सम्भव है अपना और दूसरो का अत्यधिक अपकार कर डालेंगे। हमारे सस्ती उत्तेजना फैलाने वाले चलचित्र जो अपकार कर सके हैं, वही हमारे पतन को दयनीय बनाने के लिए पर्याप्त है। उस दशा को और अधिक शोचनीय बना देने में न कोई विशेष पुरुषार्थ है न लाभ। अवश्य ही हमारे पाठकों की एक विशेष रुचि बन गई है। अच्छे चित्रकार भी संख्या में न्यून और सब के लिए अप्राप्य हैं। हमें सब की रुचि के विपरीत जाने के प्रयत्न में हानि भी सहनी पड़ेगी; परन्तु यह न भूलना चाहिए कि ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचने में असफलता उतनी बुरी नहीं, जितना बुरा लक्ष्य को नीचा बनाते रहना है।

# कुछ विचार

हमारे इस विशाल देश की बाह्य अनेकता जिस सीमा तक अपरिचय का कोहरा फैलाती है, उसी सीमा तक इसकी सांस्कृतिक एकता से, परिचय-जनित आस्था की किरणें फूटती रहती हैं। इस प्रकार इसके वहिरंग में अंतरंग को देखना, निरन्तर नवीनता में चिरन्तन परिचित को पाना हो जाता है।

यह भौतिक अनेकता और तात्विक एकता इस देश की विभिन्न भाषाओं और उनके साहित्य में सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ व्यक्त हुई है। प्रादेशिक लिपियों तथा शब्दावली विशेष की ऊँची-नीची प्राचीरों के ऊपर उठकर एक प्रदेश की, जीवन, धर्म, सौन्दर्य सम्बन्धी जिज्ञासाएँ और समाधान एक सामान्य वायुमंडल में उसी प्रकार एकाकार हो जाते हैं जिस प्रकार अनेक फूलों के हृदय से निकला हुआ परिमल घुलमिल कर एक हो जाता है। इसी से समग्र देश की जिज्ञासाओं और समाधानों में एक ऐसी विशेषता उत्पन्न हो गई है, जो भारत में अनेक नाम पाकर भी विश्व भर में एक भारतीय नाम से जानी-पहचानी जाती है।

एक महती भाषा सब का उद्गम होने के कारण हमारी विविध प्रादेशिक भाषाएँ सामान्य शब्द भंडार से अपना दाय भाग

पाती रही हैं और हमारा एक लोक जीवन अपने हृदय और बुद्धि के संस्कार के लिए एक से साधन खोजता रहा है।

हिन्दी की सहोदराओं में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रसूत मराठी उसकी निकटतम सहयोगिनी कही जा सकती है, क्योंकि दोनो के बीच में लिपि की भित्ति भी नही है। नागपुर, गोमन्तक और पश्चिमी घाट के त्रिकोण मे १,३३,००० वर्ग मील में बोली जाने वाली इस भाषा के साहित्य ने सदियों के सात सोपान पार किये है और हिन्दी के समान ही इसके जीवन में भी आलोक-अन्धकार ने अविरल चित्र-रचना की है। समग्र देश की संघर्ष-कथा मे उसका परिच्छेद उज्ज्वल है। इतना ही नही, उसकी वीरता पर साधना का पानी है।

हिन्दी के समान ही मराठी के साहित्यिक उपक्रम का श्रेय उन साधकों को है, जिन्होंने संस्कृत की कठिन सीमा में आबद्ध धर्म और संस्कृति को जन भाषा में मुक्त प्रवाह दिया।

श्री ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि सन्तों की परम्परा में हम मानवमात्र की समानता और मुक्ति के अधिकार की जैसी स्वीकृति पाते हैं, वह हिन्दी के सन्त-साहित्य के लिए नवीन नहीं है।

सत्य तो यह है कि हमारे देश की भौगोलिक सीमाओ ने कभी हमारे विचारों के आदान-प्रदान का पथ नहीं अवरुद्ध किया। उत्तर के नाथ पंथ का ज्ञान जैसे बे रोक टोक दक्षिण के समुद्रतटो को छू आया, दक्षिण की भक्ति का प्रवाह वैसे ही विन्ध्य की श्रेणियाँ पार कर हिमालय से जा टकराया।

भारतीय संस्कृति के हृदय से उद्भूत ज्ञान और भक्ति की गंगा यमुना हर प्रदेश की सरस्वती से मिल कर ऐसे नये प्रयागों की रचना करती गयी है, जो रूप से भिन्न जान पड़ने पर भी तत्त्वतः एक ही कहे जायँगे।

महाराष्ट्र प्रदेश पर जैसे यादवों का स्वर्ण काल, यवनों की पराधीनता, शिवाजी का संघर्ष, अंग्रेजी शासन आदि अनेक युगों के प्रवाह वह चुके हैं, वैसे ही उसके साहित्य को विविध धूपछाया और आँधी तूफ़ान के भीतर से मार्ग बनाना पड़ा है और यह निर्विवाद है कि राजमार्ग पर चलने वाले साहित्य से वह साहित्य अधिक समर्थ होगा, जिसे अपना पथ स्वयं प्रशस्त करना पड़ता है।

यह संयोगजनित न होकर तत्कालीन सामान्य परिस्थितियों का परिणाम है कि हमारी प्रादेशिक भाषाओं के आदिम साहित्य, धर्म की सीमा में उत्पन्न और साधना द्वारा पोषित हुए हैं। केवल विशेष संघर्ष और जय पराजय ही इस समानता में व्यतिक्रम उपस्थित कर सके हैं।

श्रीविट्ठल की भक्ति में केन्द्रित वारकरी सम्प्रदाय, ज्ञानाश्रयी नाथ पंथ, कृष्णभक्ति प्रधान महानुभाव पंथ आदि से मराठी वाङ्मय को गरिमा और माधुर्य की जो विविधता मिली है, वह किसी भी साहित्य के लिए गर्व का कारण हो सकती है।

ज्ञानेश्वरी टीका तथा दासबोध जैसे तत्त्वपरक ग्रन्थों, भक्ति से रससिक्त अभंग पदों, वीरगाथाओं में मुखर प्रवादों या पोवाड़ों, शृङ्गार से छलकती लावण्यमयी या लावनियों के प्रहर पार कर मराठी साहित्य ने आधुनिक युग की उस सीमा रेखा पर पैर रखा

है, जिसने उसकी दृष्टि के सामने नये रूप-रंगों के विस्तृत क्षितिज को आवरण मुक्त कर दिया।

कथा, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि में तरंगायित होकर जीवन के असीम आकाश को अनन्त रूपों में बिम्बित-प्रतिबिम्बित करने वाला गद्य साहित्य आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण दान है, इसमें सन्देह नहीं।

पौराणिक गाथाएँ, इतिहास के आख्यान, विशिष्ट जन-कथाएँ आदि का क्रम पार कर हमारा आख्यान-साहित्य सामान्य जन के धूल-भरे आँगन में आ खड़ा हुआ है। आज आँसू पवित्र इसलिए नहीं है कि वह किसी देवता की मूर्ति की स्थिर पुतलियों में छलक उठा है, हँसी सुन्दर इसलिए नहीं है कि वह किसी दिव्य अधर पर झलक उठी है और स्पन्दन महत्त्वपूर्ण इसलिए नहीं है कि वह किसी अमर के वक्ष को चंचल करता है। वरन् इन सब के पूत, सुन्दर और मूल्यवान होने का एकमात्र कारण है कि ये साधारण मनुष्य की जन्मजात विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार आधुनिक युग का साहित्य, पूर्ण देवता पर अपूर्ण मानव की विजय का लेखा है।

अंग्रेजों की पराधीनता के विरोध में जाग्रत राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक रूढ़िग्रस्तता के विद्रोह में उत्पन्न सुधार आन्दोलनों ने हिन्दी और मराठी दोनों के गद्य को प्रगतिशील विकास, दिया है। अनुवाद, जिसका अथ कहा जा सकता है वह गद्य आदर्श, आदर्शोन्मुख यथार्थ, कठोर यथार्थ की अनेक भूमियाँ पार करता हुआ आज मनुष्य के मनस्तत्त्व की ऐसी भूमि पर

प्रतिष्ठित हो चुका है, जहाँ से वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य और जीवन की प्रत्येक घटना को ही नहीं, उस कार्य और घटना की पृष्ठभूमि में छिपे असंख्य संस्कारों और आवेगों का भी परीक्षण कर सकता है।

कादम्बरी की अनुकृति से आकार पाकर उपन्यास और बालबोध कथा से गति पाकर कहानी-साहित्य आज जीवन के कोमलतम स्तरों के प्रत्यक्षीकरण और परिष्करण मे समर्थ हो सके हैं । ललित साहित्य ही नहीं, कोश रचना, व्याकरण जैसे उपयोगी साहित्य भी मराठी के कोष की बहुमूल्य निधि हैं।

नाट्य साहित्य का प्रश्न उठते ही हमारा ध्यान सबसे पहले संस्कृत नाटकों की ओर जाता है जो अपने देश में ही नहीं, विदेशी विद्वानों से भी अभिनन्दित हो चुके है ।

नाटक की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य इतना अधिक समृद्ध है कि संस्कृत से जन्म और विकास पाने वाली प्रादेशिक भाषाओं के लिए अनुवाद का उपक्रम ही स्वाभाविक कहा जायगा। हिन्दी के राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मराठी के कृष्ण शास्त्री राजवाडे, देवल और किर्लोस्कर ने संस्कृत नाटकों के रूपान्तर को हिन्दी और मराठी में प्रतिष्ठित किया। सन् १८७४ से लेकर वर्तमान काल तक नाटक-साहित्य ने परिणाम से लेकर प्रकार तक और तन्त्र से लेकर ध्येय तक विकास की जैसी चित्र-शाला प्रस्तुत की है, वह विस्मय की व तु है।

रंगमंच नाटक की कसौटी है, अतः ये दोनों अविच्छिन्न सम्बन्ध में बंधे रहेंगे।

जिन परिस्थितियों के कारण हिन्दी की वीर गाथाओं औ- मराठी के शाहिर काव्य के बीच में कई सदियों का व्यवधान अ पड़ा है, उन्हीं परिस्थितियों ने दोनों के नाट्य साहित्य के विकास में भी अन्तर उपस्थित कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

देश के अन्य भागों से अपेक्षाकृत पहले हिन्दी का क्षेत्र संघर्ष का केन्द्र बना और उस संघर्ष की समाप्ति पराजय में होने के उपरान्त परिस्थितियाँ इतनी बदल गयीं कि साहित्य के नाटक जैसे प्रकार का विकास कठिन ही था। फिर रंगमंच की स्थिति तो और दूर की कल्पना कही जायगी।

धर्म के क्षेत्र में रासलीलाएँ, रामलीलाएं ही रंगमंच का अभाव जैसे-तैसे पूरा करने लगीं और लोक-जीवन में स्वाँग, नौटंकी आदि ही मनोरंजन के साधन रह गये। जब स्थिति में कुछ परिवर्तन सम्भव हुआ, तब व्यावसायिक पारसी थियेटर ही रंगमंच की भूमिका में आ उपस्थित हुआ, जो उर्दू की सस्ती रंगीनी से रंगीन, पर यहाँ के सांस्कृतिक स्पन्दन से शून्य था। जीवन की गहराई में जड़ें न होने के कारण ही वह व्यवसाय का साधन, सवाक चलचित्रों के तूफ़ान में खो गया है।

हिन्दी भाषी क्षेत्र की सामाजिक रूढ़िवादिता ऐसी रही के संस्कृत और शिष्ट व्यक्ति के लिए रंगमंच पर खड़ा होना भी लज्जा का कारण माना जाता था।

हिन्दी नाटक, अनूदित, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक समस्यामूलक आदि परिचित क्रमों को पार कर एकांकी तक पहुँच जाने पर भी जिस प्राप्य से दूर है, वह मराठी नाटक को

प्रतिष्ठित हो चुका है, जहाँ से वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य और जीवन की प्रत्येक घटना को ही नहीं, उस कार्य और घटना की पृष्ठभूमि में छिपे असंख्य संस्कारों और आवेगों का भी परीक्षण कर सकता है।

कादम्बरी की अनुकृति से आकार पाकर उपन्यास और बालबोध कथा से गति पाकर कहानी-साहित्य आज जीवन के कोमलतम स्तरों के प्रत्यक्षीकरण और परिष्करण में समर्थ हो सके हैं। ललित साहित्य ही नहीं, कोश रचना, व्याकरण जैसे उपयोगी साहित्य भी मराठी के कोष की बहुमूल्य निधि है।

नाट्य साहित्य का प्रश्न उठते ही हमारा ध्यान सबसे पहले संस्कृत नाटकों की ओर जाता है जो अपने देश में ही नहीं, विदेशी विद्वानों से भी अभिनन्दित हो चुके हैं।

नाटक की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य इतना अधिक समृद्ध है कि संस्कृत से जन्म और विकास पाने वाली प्रादेशिक भाषाओं के लिए अनुवाद का उपक्रम ही स्वाभाविक कहा जायगा। हिन्दी के राजा लक्ष्मणसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मराठी के कृष्ण शास्त्री राजवाडे, देवल और किर्लोस्कर ने संस्कृत नाटकों के रूपान्तर को हिन्दी और मराठी में प्रतिष्ठित किया। सन् १८७४ से लेकर वर्तमान काल तक नाटक-साहित्य ने परिणाम से लेकर प्रकार तक और तन्त्र से लेकर ध्येय तक विकास की जैसी चित्र-शाला प्रस्तुत की है, वह विस्मय की व तु है।

रंगमंच नाटक की कसौटी है, अतः ये दोनों अविच्छिन्न सम्बन्ध में बंधे रहेंगे।

जिन परिस्थितियों के कारण हिन्दी की वीर गाथाओं और मराठी के शाहिर काव्य के बीच में कई सदियों का व्यवधान आ पड़ा है, उन्हीं परिस्थितियों ने दोनों के नाट्य साहित्य के विकास में भी अन्तर उपस्थित कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

देश के अन्य भागों से अपेक्षाकृत पहले हिन्दी का क्षेत्र संघर्ष का केन्द्र बना और उस संघर्ष की समाप्ति पराजय में होने के उपरान्त परिस्थितियाँ इतनी बदल गयीं कि साहित्य के नाटक जैसे प्रकार का विकास कठिन ही था। फिर रंगमंच की स्थिति तो और दूर की कल्पना कही जायगी।

धर्म के क्षेत्र में रासलीलाएँ, रामलीलाएँ ही रंगमंच का अभाव जैसे-तैसे पूरा करने लगीं और लोक-जीवन में स्वाँग, नौटंकी आदि ही मनोरंजन के साधन रह गये। जब स्थिति में कुछ परिवर्तन सम्भव हुआ, तब व्यावसायिक पारसी थियेटर ही रंगमंच की भूमिका में आ उपस्थित हुआ, जो उर्दू की सस्ती रंगीनी से रंगीन, पर यहाँ के सांस्कृतिक स्पन्दन से शून्य था। जीवन की गहराई में जड़ें न होने के कारण ही वह व्यवसाय का साधन, सबाक चलचित्रों के तूफ़ान में खो गया है।

हिन्दी भाषी क्षेत्र की सामाजिक रूढ़िवादिता ऐसी रही कि संस्कृत और शिष्ट व्यक्ति के लिए रंगमंच पर खड़ा होना भी लज्जा का कारण माना जाता था।

हिन्दी नाटक, अनूदित, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक समस्यामूलक आदि परिचित क्रमों को पार कर एकांकी तक पहुँच जाने पर भी जिस प्राप्य से दूर है, वह मराठी नाटक को

अपने शैशव में ही प्राप्त हो गया था। इस दृष्टि से मराठी अधिक भाग्यवती कही जायगी, क्योंकि नाट्य साहित्य के साथ ही उसके रंगमंच का जीवन दीर्घ और विकास स्वस्थ है।

किर्लोस्कर के शाकुन्तल, सौभद्र, देवल के मृच्छकटिक, खाडिलकर के कीचक वध, स्वयंवर जैसे नाटकों से लेकर आधुनिकतम नाटक तक, रंगमंच की कसौटी पर परखे भी गये हैं और उन्होंने रंगमंच की सीमा और संभावनाओं का परीक्षण भी किया है।

लोक-जीवन पर व्यापक और स्थायी प्रभाव डालने के साधनों में अन्यतम नाटक है, इस सत्य का बोध तो मनुष्य को युगों पहले हो चुका है: पर इस साधन की प्रयोगात्मक रूप-रेखा युग विशेष की समस्याओं के साँचे में ढलती निखरती रही है।

जीवन भीतर से अनेक संस्कारों और मानसिक विकारों का और बाहर से घटनाओं का संघात है। इन घटनाओं की नाटकीय स्थितियाँ कभी-कभी मानसिक द्वन्द्वों और संघर्षों की ओर इस प्रकार संकेत कर देती है कि घटना अकेली न रहकर जीवन के निरन्तर क्रम में स्थान पा लेती है। नाटक, सामान्य घटनाओं में से ऐसी ही विशेष घटना का प्रत्यक्षीकरण है। जिस नाटककार की दृष्टि मानव प्रकृति के गहनतम स्तरों तक पहुँचने की शक्ति रखती है, वही बिखरी घटनाओं की संगति बैठा सकता है और उसी का चयन और प्रत्यक्षीकरण जीवन को गहराई में स्पर्श कर पाता है।

साहित्य जीवन का चित्र अवश्य है; परन्तु वह फोटोग्राफी मात्र नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह स्वप्नद्रष्टा चित्रकार की कुशल उँगलियों से आँका गया ऐसा चित्र है, जिसमें हर रेखा किसी सम्भाव्य यथार्थ को सत्य बनाती है और रंग किसी अलक्ष्य स्वप्न को धरती पर उतारता है। आज जीवन की वह परिस्थिति नहीं है, जिसमें कण्व का आश्रम सम्भव हो सकता; पर इससे शकुन्तला की मर्मव्यथा अपरिचित नहीं हो जाती। साहित्य और कला के लिए, 'क्षण क्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' ही कहा जा सकता है। यह नवीनता वस्तु सापेक्ष न होकर तत्त्वगत है और यह तत्त्व असीम विविधता का कारण बनता रहता है।

आदिमयुग से आज तक मनुष्य अपने हृदय और बुद्धि का परिष्कार करता आ रहा है; पर इस क्रम के किसी भी बिन्दु पर उसकी मानसिक तथा बौद्धिक वृत्ति का तारतम्य नहीं टूटा। किसी भी युग में मनुष्य, जीवन की धोई पोंछी स्लेट पर अपने अनुभवों की वर्णमाला नहीं आरम्भ करता। मनुष्य के आँसू हँसी के कारण भिन्न हो सकते हैं; परन्तु उनके मूलगत विषाद, आनन्द एक ही रहेंगे।

इन मूलभावों की स्थिति को स्वीकार कर समाज अपनी स्थिति की रक्षा के लिए कुछ विधान रचता है, व्यक्ति अपनी हित-रक्षा के लिए कुछ नियम बनाता है। परन्तु मनुष्य से मनुष्य का सम्पर्क केवल विधान और नियम से संचालित नहीं होता, क्योंकि वह प्रत्येक आदान-प्रदान को किसी अलक्ष्य तुला पर तोल

कर उसका मूल्य निश्चित करता रहता है। संसार के सारे विधान, जीवन के सारे नियम, मनुष्य को, मनुष्य के लिए प्रसन्नतापूर्वक छोटा-सा त्याग करने पर भी बाध्य नहीं कर सकते; पर वह स्वेच्छा से प्राण तक दे डालता है। अतः सामाजिक सम्बन्धों का, इस अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष से लेकर एक अति मानवीय दार्शनिक पक्ष तक, विवेचन किया जा सकता है। दूसरे व्यक्ति की व्यथा से तादात्म्य ही हमें उसकी दुखद स्थिति में परिवर्तन लाने की प्रेरणा देता है; पर उस तादात्म्य की सीमा हमारे मानसिक संस्कार की सापेक्ष्य है। इस प्रकार मानवीय सम्बन्धों में सामंजस्य की स्थिति संयोग-साध्य ही रहती है।

# दोष किसका

यदि किसी ऐसे सम्बन्ध की कल्पना की जावे जो एक व्यक्ति से दूसरे को दूर रखते हुए भी उन्हें निकट से निकट पहुँचाने में समर्थ हो, व्यक्तित्व के आकर्षण के बिना भी उनमें सहानुभूति और स्नेह की सृष्टि कर सके तथा अन्य लौकिक सम्बन्धों के अभाव में भी उन्हें बौद्धिक और साहित्यिक बन्धन में बाँध सके, तो सब से प्रथम हमारा ध्यान सम्पादक तथा उसके बृहत् लेखक और पाठक परिवार की ओर जायगा। एक ओर ऐसा व्यक्ति है, जो अपने एक मस्तिष्क के विचारों को अनेक मस्तिष्कों तक पहुँचा देने का इच्छुक है, अपने एक हृदय की पुकार को अनेक हृदयों में प्रतिध्वनित कर देने के लिए आकुल है। दूसरी ओर ऐसा मानव समुदाय है, जो प्रत्येक समस्या का समाधान करने से पहले उस पर दूसरों के विचार जान लेना चाहता है, अपनी सोती हुई प्रेरणा को जगाने के लिए, बिखरे भावों को एकत्र करने के लिए तथा किसी भी विशेष दिशा में अग्रसर होने के लिए औरों से साहाय्य और संकेत की अपेक्षा करता रहता है।

सम्पादक इन दोनों के बीच का दूत है; परन्तु ऐसा, जो एक के विचारों तथा उद्‌गारों का मूल्य और अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्क तथा हृदय पर उनके अच्छे या बुरे प्रभाव का निर्णय करता है।

यह न देने योग्य अपथ्य के विष को अपने ही तक सीमित रख कर देने योग्य पेय को सुन्दर से सुन्दर पात्र में अन्य व्यक्तियों को समर्पित करता है। वास्तव में वह अपने बृहत् परिवार का ऐसा बड़ा बूढ़ा है, जो परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से अपना स्नेह और अपनी सहानुभूति बाँटता है; परन्तु किसी को भी उनका दुरुपयोग नहीं करने देता। सुन्दर भविष्य के सन्देश-वाहक छोटे से अंकुर की प्राण के समान रक्षा करने वाले तथा बड़ी से बड़ी, उच्छृङ्खल और उपवन के सौन्दर्य को घटा देने वाली शाखा को काट देने वाले माली के मोह और विराग के समान ही उसका प्रेम और उसकी कठोरता है। किसी भी अवस्था में उसकी दृष्टि अपने केन्द्र-विन्दु लोक-कल्याण से नहीं विचलित होती।

उसके उत्तरदायित्व को देखते हुए यह समझना सहज हो जाता है कि यह कार्य किसी दुर्बल, साहसहीन तथा समय के प्रवाह में प्रत्येक लहर के साथ बह जाने वाले या किनारे पर बैठ कर उन्हें गिनते रहने वाले व्यक्ति का नहीं है, वरन् उस साहसी का है, जो प्रवाह में उतर कर भी स्थिर रहकर उसकी गहराई की थाह ले सके तथा अन्य बहने वालों को सहारा दे सके।

केवल संगृहीत कर देने के अर्थ में सम्पादक का प्रयोग चाहे पुराना हो; परन्तु इस हलचल से भरे युग में उसकी परिभाषा विशेष रूप से नवीन है। इस समय हमें यह आवश्यकता नहीं कि हमारे सम्पादक महाभारत जैसे महाकाव्य को सम्पादित करने के भगीरथ प्रयास में लग जावें; परन्तु यह उनके कर्त्तव्य

की पूर्ति के लिए अनिवार्य है कि वे उन भावनाओं और विचारों को सर्वसाधारण तक पहुँचा सकें, जो सुन्दर भविष्य के अग्रदूत हो सकते हैं तथा उन संस्कारों को मिटाने का प्रयत्न करें जिनसे प्रगति में बाधा पड़ती है।

हिन्दी पत्रों की संख्या के अनुसार उनके सम्पादकों की संख्या भी न्यून नहीं, जिसमें पुराने-नये, अनुभवी-अनुभवहीन, शिक्षित-अर्धशिक्षित, उत्तरदायित्वयुक्त-उत्तरदायित्वशून्य, सभी प्रकार के व्यक्ति मिल जाते हैं। प्रायः लोगों की यह धारणा देखी जाती है कि इनमें अधिक संख्या अनधिकारियों की या ऐसे व्यक्तियों की है, जो किसी भी कार्य के उपयुक्त न होने के कारण इसी क्षेत्र में आ गये हैं। इसे सुन कर हम अप्रसन्न हो सकते हैं; परन्तु केवल हमारा अप्रसन्न हो जाना ही तो इस कथन को असत्य नहीं प्रमाणित कर सकता। यदि विचार किया जाय, तो इस धारणा में सत्य का नितान्त अभाव न जान पड़ेगा।

हम प्रत्येक क्षेत्र में छोटे से छोटे कार्य के लिए भी कर्ता में उन गुणों को पहले देख लेते हैं, जिनसे वह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है, परन्तु आश्चर्य का विषय है कि सम्पादन ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उपयुक्त पात्रता जाँचने की हमारे पास कोई कसौटी नहीं। हिन्दी में कुछ उत्तेजनापूर्ण लिख-पढ़ लेने के अतिरिक्त सफल सम्पादक होने के लिए और भी विशेष गुण की आवश्यकता हो सकती है, इस ओर हमारा प्रायः ध्यान नहीं जाता। अतः यदि कुछ ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र में प्रवेश पा गये हैं, जिनके दुर्बल कन्धे इस गुरु भार को सँभाल नहीं सकते,

तो आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो तब होता है, जब ऐसी अवस्था में भी हम अपने यहाँ सुयोग्य सम्पादकों का नितान्त अभाव नहीं पाते।

प्रत्येक दुरवस्था के समान इसके भी कारण हैं। प्रथम तो इसका उत्तरदायित्व हमारे प्रतिकूल वातावरण और कठोर परिस्थितियों पर है, जो हमें अपने भावी जीवन के लिए उद्देश्य या लक्ष्य स्थिर करने का अवकाश ही नहीं देती और यदि हम किसी प्रकार ऐसा करने में समर्थ हो गये तो उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमें साहस और शक्ति एकत्र करने की सुविधाएँ तथा साधन नहीं मिलते।

हमारे जीवन में बेकारी तथा उससे सम्भूत दरिद्रता ने ऐसा डेरा डाल रखा है कि उससे छुटकारा पाने के लिए किसी कार्य को स्वीकार करते समय अपनी पात्रता अपात्रता पर विचार करना कठिन ही नहीं, असम्भव हो उठता है। इसके अतिरिक्त अधिकांश पत्र, व्यवसायी-समुदाय के हाथ में है, जिनके लिए लोक कल्याण की चिन्ता उतनी स्वाभाविक नहीं है, जितनी अपने व्यवसाय सम्बन्धी हानि लाभ की। अतएव उन्हें सिद्धान्तवादी योग्य व्यक्तियों से अधिक उनकी आवश्यकता होती है, जिनके द्वारा जनसाधारण का सस्ता मनोरंजन हो सके। यहाँ तक तो परिस्थितियों का दोष कहा जा सकता है, जिन पर मनुष्य कभी विजय पा लेता है और कभी नहीं। यदि पा लेता है तो परिस्थितियाँ उसकी इच्छानुसार अपने आपको बदल लेती हैं और यदि नहीं पाता, तो उसे अपने आपको परिस्थितियों के अनुकूल बनाना

पड़ता है। आवश्यकता के अनुसार कोई मनुष्य चाहे मोची का काम करने पर बाध्य हो चाहे न्यायाधीश का, उसे दोष देना अनुचित होगा; परन्तु दोषी वह तब ठहराया जा सकता है, जब न वह मोची का कार्य ठीक-ठीक करने का प्रयास करे न न्यायाधीश का। परिस्थितियाँ हमें अप्रिय कर्त्तव्य स्वीकार करने पर अवश्य ही बाध्य कर सकती हैं: परन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं कि वे हमें सच्चाई और मनोयोग के साथ उस कर्त्तव्य के पालन से रोक सकें।

कोई केवल सम्पादक के आसन पर आसीन होकर ही अपने कर्त्तव्य की पूर्ति नहीं कर लेता, जैसे नश्तर हाथ में आ जाने से ही कोई डाक्टर नहीं हो जाता। रोगी के एक-एक स्वस्थ रोम से ममता तथा केवल दूषित अंग को दूर करने की क्षमता ही चिकित्सक को चिकित्सक कहलाने का अधिकार देती है। इसी प्रकार समाज के स्वस्थ विकास की ओर प्रयत्नशील तथा उस विकास की गति को रुद्ध कर देने वाली बाधाओं को दूर करने में तत्पर व्यक्ति ही सम्पादक का उत्तरदायित्व वहन करने की शक्ति रखता है। प्रत्येक कर्त्तव्य के समान इस गुरु कार्य में भी कर्त्ता के हृदय तथा मस्तिष्क दोनों को परिष्कृत और विकसित होना चाहिए, क्योंकि संकीर्णता कर्त्ता और कर्त्तव्य के लिए सब से बड़ा अभिशाप सिद्ध होती है। एक ओर उसमें इतनी सहानुभूति, इतनी उदारता की आवश्यकता है जिससे वह किसी भी दुर्बलता को उपहास के योग्य न समझे और दूसरी ओर इतना ज्ञान कि उसका निदान तथा दूर करने के उपाय जान सके।

इस प्रकार अक्षय सहानुभूति द्वारा अपने विस्तृत परिवार का आत्मीय बनने के उपरान्त वह बहुत ही सरलतापूर्वक दूसरों के स्वस्थ मानसिक विकास में सहायता दे सकता है, जो उसके कर्त्तव्य का मुख्य लक्ष्य तथा दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है।

संकीर्ण हृदय की संकुचित दृष्टि केवल अपने अधिकार तथा उनसे होने वाले व्यक्तिगत हानिलाभ तक ही परिमित रह सकती है और संकीर्ण विचारों वाला अदूरदर्शी अपनी उलझी धारणाओं से दूसरों की समस्या को और भी जटिल बना देता है।

सम्पादक विशेष राजनीतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में काम करता है, अतः यह प्रश्न कि उसे इनसे संबंध रखने वाले प्रत्येक विषय का वैसा ही ज्ञान होना चाहिए या नहीं, जैसा उन विषयों के विशेषज्ञों को होता है, कुछ कम महत्त्व नहीं रखता। प्रत्येक वस्तु का व्यावहारिक ज्ञान उसके विज्ञान अंग से भिन्न किया जा सकता है, यह हम जानते हैं। यदि ऐसा न होता, तो साधारण व्यक्ति बिना विशेषज्ञ हुए कोई कार्य ही न कर सकता। फिर जब एक ही विषय की विशेषज्ञता में जीवन बीत सकता है, तब एक ही जीवन में अनेक विषयों का विशेषज्ञ होना सम्भव भी नहीं। जल, पवन, वनस्पति आदि के उपयोग तथा उनके गुण या अवगुणों का ज्ञान सब के लिए आवश्यक है; परन्तु वे किन उपकरणों से बने हैं, उन उपकरणों को कैसे भिन्न किया जा सकता है आदि की विवेचना और खोज उन विषयों से अनुराग रखनेवाले विज्ञानाचार्यों के लिए सुरक्षित रहती है।

साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ परस्पर अन्योऽन्यापेक्षी हैं, क्योंकि साहित्य, समाज तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करता रहता है और वे साहित्य में अपने आपको प्रतिबिम्बित करती रहती है। अतएव सम्पादक राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का विशेषज्ञ चाहे न हो; परन्तु उसका इन विषयों के व्यावहारिक रूप से अनभिज्ञ होना अनुचित ही नहीं, हानिकर भी होगा। समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र के किसी सिद्धान्त विशेष की खोज, उसका ध्येय न होने पर भी, उनका विकास क्रम और उनके द्वारा समाज विशेष में परिवर्तन, उसके ज्ञातव्य रहेंगे।

साहित्य में भी कोई विशेष विस्मृत घटना खोज निकालना या ऐसा ही अन्य कार्य चाहे उसका लक्ष्य न हो; परन्तु साहित्य की जीवनदायिनी शक्ति, उसका युगान्तरगामी प्रभाव तथा भविष्य के निर्माण में उसकी उपयोगिता आदि के विषय में न जानना उसकी अदूरदर्शिता ही होगी।

कहा जाता है कि शिक्षक का आसन उसी के लिए है जो निरन्तर विद्यार्थी बना रह सके। सम्पादक के लिए भी यह सत्य है। उसका कर्त्तव्य इतना गुरु है, उसका लक्ष्य इतना ऊँचा है तथा उसके साधन इतने अपूर्ण हैं कि जीवन भर जिज्ञासु विद्यार्थी बने बिना वह न किसी को कुछ दे सकता है और न अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। हमारे वर्तमान सम्पादक-परिवार में थोड़े ही व्यक्ति ऐसे होंगे जो मित्रों की प्रशंसा, अमित्रों की निन्दा और विरोधियों पर अशिष्ट आक्षेप-वर्षा से कुछ समय

निकाल कर अपने कर्त्तव्य के अनुरूप अध्ययन में उसे व्यतीत करते हों।

संसार के महान् से महान् परिवर्तन के, बड़ी से बड़ी क्रान्ति के तथा भयावह से भयावह उथल-पुथल के सन्मुख भी उन्हें व्यक्तिगत कलह और आक्षेपों में उलझा देख कर किसे आश्चर्य न होगा। उनके इस स्वभाव से लोग इतने अधिक परिचित हो उठे है कि कितने ही सम्भ्रान्त व्यक्ति, अपनी यह धारणा भी व्यक्त करते हुए संकोच का अनुभव नहीं करते कि जो व्यक्ति सभा में अशिष्ट, मित्रों में अनुदार तथा असहनशील और व्यवहार में कलहप्रिय हो, उसे हिन्दी का साहित्यकार या सम्पादक समझना चाहिए। यह सम्मान क्या निकृष्ट से निकृष्ट लेखक या सम्पादक को भी शोभा देगा! परन्तु तब तक इसका उत्तर ही क्या दिया जा सकता है, जब तक हमारा प्रत्येक कार्य उनके कथन का प्रमाण बनता जा रहा है, और हमारे जीवन का प्रत्येक दिन हमे आगे बढ़ाने की अपेक्षा पीछे लौटा रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि सम्पादकों के मार्ग में ऐसी बाधाएँ हैं, जो उनके विकास को चारों ओर से घेरे रखना चाहती हैं; परन्तु यदि उनमें साहस और आत्म-सम्मान हो, संगठित शक्ति हो, संसार को अपनी आवश्यकता का अनुभव करा देने योग्य दृढ़ता हो, तो बाधाएँ उनकी गति की बेड़ियाँ नहीं बन सकतीं, व्यवसायी जगत् उन्हें कठपुतली का नाच सिखाने का साहस नहीं कर सकता और प्रतिकूल परिस्थितियाँ उन्हें

मोम के खिलौनों की तरह गला-गला कर नये-नये रूप रंगो से नहीं सजा सकतीं।

व्यक्तिगत दुर्बलताओं, व्यावसायिक परिस्थितियों के अतिरिक्त सम्पादकीय जीवन को विषाक्त बना देने का कारण लेखकों और सम्पादकों में विश्वास तथा सद्भावना की कमी भी है। सम्भव है, इस विषय में कोई एक पक्ष अधिक या कम दोषी हो; परन्तु दोष दोनों ओर है इसमें सन्देह नहीं। हमारा आधुनिक लेखक अपने प्रथम प्रयास को सम्पादक द्वारा तुरन्त ही असंख्य व्यक्तियों तक पहुँचा देने को आकुल हो उठता है। वह किसी प्रकार भी यह विश्वास करना नहीं चाहता कि संसार की दृष्टि में उसके प्रथम प्रयास का मूल्य कुछ नहीं भी हो सकता है। जीवन का प्रथम प्रयास अस्फुट क्रन्दन के अतिरिक्त और क्या होता है! चलने का प्रथम प्रयास लड़खड़ाने और गिरने उठने के अतिरिक्त क्या होता है! फिर लिखने का प्रथम प्रयास ही क्यों इतना पूर्ण, इतना सुन्दर और इतना कल्याणमय समझा जावे कि उसका संसार की दृष्टि से छिपा रहना दुर्भाग्य माना जाय।

प्रत्येक कला के समान साहित्य भी एक साधन है, जिसमें जीवन की सुन्दरतम अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है; परन्तु यह मान लेना कठिन हो जाता है कि अभिव्यक्ति का प्रथम प्रयास ही उस कसौटी पर खरा उतर सकता है। ऐसे नवीन लेखकों को जब तक अपने सब प्रकार के उद्गारों के, विशेष सजधज से, पत्र के किसी कोने में विराज जाने की आशा रहती है उनके

समान, सम्पादक-स्तोत्रपाठी व्यक्ति ढूँढ़ निकालना कठिन हो जाता है। परन्तु, इस आशा के नष्ट होतेही उनके निकट सम्पादक का रूप उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है, जैसे स्वर्णमृग क्षण भर में मारीच हो गया था। व्यक्तिगत रूप से जिन कटु सम्मतियो के लिए वे कृतज्ञ होते हैं, वे ही सम्पादक से सम्बद्ध होकर पक्षपात से विषैली जान पड़ने लगती है। यह सत्य है कि अनेक सम्पादक भी नवीन लेखकों के साथ न विशेष सहानुभूति रखते है और न उनकी रचनाओं की ओर आवश्यक ध्यान ही देते हैं, परन्तु प्राय. इस व्यवहार का कारण निस्सार रचनाओं की अधिकता भी होती है।

जो व्यक्ति नित्य २० लेखों में से १५ में कोई सार नहीं पाता उसकी ऐसी धारणा बन जाना असम्भव तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु हानिकारक अवश्य है। जो व्यक्ति पाँच पंक्तियों का पत्र शुद्ध नहीं लिख सकता, उसका पच्चीस पृ०ठ का लेख भेजना अपने प्रति भी अन्याय है और सम्पादक के प्रति भी, क्योंकि उसका, साहित्य की आराधना में परिश्रम से जी चुराना, सम्पादक में भी यही दुर्बलता उत्पन्न कर देता है।

आधुनिक युग में अपने व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य जितना परतन्त्र है, उससे दस गुना अधिक सम्पादकीय जीवन में है। वह, पत्र की नीति, पाठकों की रुचि, अपनी आवश्यकता, संचालकों के व्यावसायिक दृष्टिकोण आदि से इस प्रकार ढक जाता है कि हम कठिनाई से वाह्य आवरण को भेद कर उसके व्यक्तित्व तक पहुँच पाते हैं। यदि उसमें अपने उत्तरदायित्व

के अनुसार दृढ़ता, साहस तथा आत्मविश्वास होता, तो सम्भव है यह परिस्थितियाँ बदल जाती; परन्तु दुर्भाग्य से उसकी दुर्बलता ही अन्य गुणों के रिक्त स्थानों को भरती रहती है।

लब्धप्रतिष्ठ लेखकों से भी उसका ऐसा सम्बन्ध नहीं जो स्पृहणीय समझा जा सके। जिनको उसकी सहायता की आवश्यकता है उनकी वह अवहेलना करता है और जिनकी उसे आवश्यकता है वे उसकी उपेक्षा करते हैं। नवीन लेखकों से जैसा अनुनय-विनय उसे प्राप्त होता है, वैसा ही उसे प्रख्यात लेखकों को देना पड़ता है, अतः उनके संबंध में किसी प्रकार की आत्मीयता और सहानुभूति उत्पन्न ही नहीं हो पाती। यह तो प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति स्वीकार कर लेगा कि हमारे लेखकों के पास शुद्ध साहित्यिक जीवन व्यतीत करने के साधन कम हैं और असुविधाएँ असंख्य हैं। पत्र, पत्रिका आदि अपनी वृद्धि के लिए उनकी सहायता तथा सहयोग अवश्य चाहते हैं; परन्तु उन्हें अपने विकास के लिए किसी प्रकार की सहायता या सुविधा देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते। कितने ही लेखक हमारे साहित्य के लिए अमूल्य निधि सिद्ध होते, यदि आर्थिक कठिनाइयों ने उनका मार्ग रुद्ध न कर दिया होता।

परन्तु इस दशा का उत्तरदायित्व केवल सम्पादक पर न डाल देना चाहिए, क्योंकि वह तो स्वयं ही अपनी असुविधाओं से पंगु हो चुका है। यदि सम्पादकों में अपने गुरु भार को वहन करने की क्षमता उत्पन्न हो सके, उनमें तथा लेखकों में सहानुभूति तथा विश्वासपूर्ण अटूट सम्बन्ध स्थापित हो सके और उनकी

शक्ति संगठित हो सके, तो हमारी अधिकांश आपत्तियाँ दूर हो जावें। यदि हम अपनी ही दुर्बलता से आगे नहीं बढ़ सकते हैं, अपनी ही अदूरदर्शिता से भविष्य के संकेत को नहीं देख पाते हैं. अपने ही स्वार्थप्रिय स्वभाव से सहयोगियों को साथ नहीं ले रहे हैं और आप ही अपने शत्रु हो रहे हैं तो किसी अन्य को अपनी आपत्तियों का कारण समझ लेना एक और दुर्बलता को आत्मसात् कर लेना होगा।

हम क्या करें और कैसे करे, इस पर विचार करने का समय पीछे आता है; पहले अपने अभाव का तथा उस अभाव को दूर करने के साधन का स्पष्ट बोध तो होना चाहिए।

जो देश की एक बड़ी संख्या के मस्तिष्क के लिए भोजन प्रस्तुत करते हैं, उनका अज्ञान और उनकी भ्रान्ति देख कर किसे विस्मय न होगा। पिंजरबद्ध मूषक को देख कर संसार को इतना कौतूहल नहीं होता, जितना पिंजरबद्ध सिंह को देख कर होता है।

हम स्वयं ही अपनी उन परिस्थितियों का निर्माण कर लेते हैं, जो आगे चल कर हमारे भावी जीवन को ढालती हैं। अतः अपनी दुर्दशा के कारण भी हमी हैं।

# सुई दो रानी, डोरा दो रानी

मार्ग में निरन्तर 'सुई दो रानी, डोरा दो रानी' इत्यादि सुनते-सुनते बदरीनाथ के निकट पहुँचने तक मुझे यह विश्वास हो चला था कि उस सुदूर पर्वत प्रान्त में न तो रानी होने से अधिक कोई सहज काम है और न सुई से अधिक कोई महत्त्वपूर्ण देने योग्य वस्तु।

मलिन भूरे बाल वाले बालक, लाल मूँगों की मालाओं से अपने को सजाये हुए, चकित दृष्टि वाली युवतियाँ तथा वात्सल्य से भरी हुई वृद्धाएँ और जहाँ-तहाँ जाते हुए निश्चित निरीह से पुरुष सब को एक ही धुन थी। यहाँ तक कि वे स्थान भी, जहाँ शीत की अधिकता के कारण स्त्रियाँ और पुरुष कम्बल के दोनों छोरों को कन्धे पर चाँदी या किसी और धातु के काँटे से अटका कर केवल उसी को अपना परिधान बनाये थे, इस राग से मुखरित हो रहे थे। कई बार तो छोटे-छोटे बालकों ने इस प्रकार घेर लिया कि अपना सारा सुई डोरा फेंक कर हमें भागना पड़ा।

कई पहाड़ी सम्भ्रान्त व्यक्तियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस विचित्र भिक्षा वृत्ति का कारण सुई का अभाव नहीं है। अब तो सब आवश्यक वस्तुएँ भेड़ों के द्वारा बदरीनाथ तक पहुँचाने का समुचित प्रबन्ध हो गया है; परन्तु यह प्रथा उस

समय से सम्बन्ध रखती है जब यात्रियों के अतिरिक्त ऐसी वस्तुएँ पहुँचाने का और कोई साधन न था।

उस समय विचार आया कि हमारे परम्परागत संस्कारों का मिटना कितना कठिन है। माँगना छोड़ना तो दूर की बात, उनके हृदय में कुछ और माँगने की इच्छा ही नहीं उत्पन्न होती। प्रत्येक व्यक्ति केवल हजार पाँच सौ सुइयों के संग्रह का स्वप्न देखता रहता है।

किसी वस्तु के प्राप्त कर लेने की इच्छा में जो मधुरता है वह उस इच्छा की पूर्ति में नही, इसका अनुभव मुझे बदरीनाथ के, धूप में पारे के समान झिलमिलाते हुए हिम-मय शिखरों के निकट पहुँच कर हुआ।

हनुमान चट्टी से पाँच छः मील की जो दुर्गम और विकट चढ़ाई आरम्भ हुई थी, उसका अन्त एक ओर नर और दूसरी ओर नारायण नाम के पर्वतों तथा उनकी असंख्य श्रेणियों से घिरी हुई समतल भूमि में हुआ। श्वेत कमल की पँखुरियों के समान लगने वाले पर्वतों के बीच में निरन्तर कल कल नादिनी अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई वह पुरी, हिमालय के हृदय में छिपी हुई इच्छा के समान जान पड़ी। वृक्ष, फूल और पत्तों का कहीं चिन्ह भी नही था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी निस्पन्द समाधि में मग्न तपस्विनी जैसी आडम्बरहीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी। और उतने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे, मानो किसी शरद् पूर्णिमा की रात्रि में पहरा देते-देते, चाँदनी समेत जम कर जड़ हो गये हों।

बदरीनाथ के एक मील बाहर वहाँ के वयोवृद्ध रईस नारायणदत्तजी ने फूलों से सजा हुआ एक सुन्दर बंगला बनवा रक्खा है, जिसमें कभी-कभी कोई सम्भ्रान्त व्यक्ति ठहर जाता है परन्तु प्रायः उसकी दीवारों को पथिकों का दर्शन दुर्लभ रहता है। पक्के तीर्थ यात्री तो पंडे के संकीर्ण घर में भेड़ बक-रियों की तरह भरे रहने में ही पुण्य की प्राप्ति समझते हैं।

नारायणजी ऐसे विदेह गृहस्थ हैं, जो अपनी साधना का फल औरों को समर्पण कर देने में ही सिद्धि समझते हैं। बदरीनाथ ऐसे स्थान में उन्होंने बाग लगाया है फलों के पेड़ लगाये हैं, आलू की खेती आरम्भ की है और न जाने कितने उपयोगी कार्य किये हैं। इतनी वृद्धावस्था में भी दिन-दिन भर धूप में उन्हें काम करने और कराते देख कर हमें बड़ा विस्मय हुआ।

फूलों के निकट रहने की इच्छा से, एकान्त के आकर्षण से और अपने स्वभाव के कारण मैंने वहीं ठहरने का निश्चय किया, परन्तु हमारे सहयात्रियों में जो-एक दो सच्चे तीर्थयात्री थे, वे उसी समय अपने पंडे का आतिथ्य स्वीकार करने चले गये। पंडाजी हमें भी बुलाने आये और उनकी नम्रता और उनका शील देख कर मेरा पंडों के प्रति उपेक्षा भाव तो दूर हो गया; परन्तु वह स्थान इतना रमणीक था कि उसे छोड़ने की कल्पना भी अच्छी नहीं लगी।

वहीं रुपये सेर दूध, रुपये सेर आटा और एक आने की एक छोटी लकड़ी के हिसाब से लकड़ियाँ मँगा कर भोजन की व्यवस्था

की गई। कदाचित् इस महँगेपन के कारण ही बदरीनाथ में यात्रियों के स्वयं भोजन न बना कर पंडे के यहाँ या बाज़ार में भोजन का प्रबन्ध करने की प्रथा है। इस प्रथा का अनुकरण करने के कारण पुरी में ठहरने वाले हमारे साथी इतने अस्वस्थ हो गये कि दूसरे ही दिन उन्हें उसे छोड़ देना पड़ा।

उस दिन तीसरे पहर तक उन रुपहले शिखरों को मन भर कर देखने के उपरान्त अलकनन्दा का छोटा-सा पुल पार कर के हम सब पुरी देखने निकले; परन्तु देख कर केवल निराशा हुई। संकीर्ण गलियाँ और घर दुर्गन्धपूर्ण और गन्दे थे। देख कर सोचा कि जब हम इतने बड़े तीर्थ स्थान को भी स्वच्छ और सुन्दर नहीं रख सकते, तब किसी और स्थान को स्वच्छ रखने की आशा तो दुराशा मात्र है। उत्तुंग स्वर्ग के चरणों से ही नरक की अतल गहराई बँधी है, इसका प्रमाण ऐसे ही स्थानों में मिल सकता है जहाँ पुण्य-पाप, पवित्रता-मलिनता और करुणा-क्रूरता के एक दूसरे में जीने वाले द्वन्द्व प्रत्यक्ष आ जाते हैं।

असंख्य गण्यमान्य और नगण्य, धनी और दरिद्र, शक्ति-सम्पन्न और दुर्बल, सपरिजन और एकाकी यात्री वहाँ प्रतिवर्ष जाते-आते हैं। धनिकों के सारे अभाव तो उनका धन दूर कर देता है; परन्तु दरिद्रों के लिए न रहने का अच्छा प्रबन्ध है न भोजन का। फलतः अधिकांश यात्री रोगी होकर लौटते हैं और कुछ मार्ग में ही परमधाम चल देते हैं।

उस दिन हम लोग दो मील दूर उस मन्दिर को देखने गये, जो द्रौपदी के गलने के स्थान पर उसकी स्मृति में बनाया गया है।

वहाँ से थोड़ी ही दूर पर दो पर्वतों के बीच से निकलती हुई वसुधारा की पतली धार दिखाई दी जो दूर से बादलों से छन कर आती हुई किरणों की तरह जान पड़ती थी। उसी के पास व्यास गुफा और तिब्बत जाने का मार्ग है और वहीं तिब्बती लोगों के एक ग्राम का भग्नावशेष है, जिसमें अब भी कुछ लोग आते-जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

बदरीनाथ पुरी में देखने योग्य वस्तुओं में मन्दिर और अलक-नन्दा के बीच में एक बहुत उष्ण जल का और एक ठंडे जल का सोता है। वहीं एक कुंड बना दिया गया है जिसमें दोनों स्रोतों का जल मिला कर यात्रियों को स्नान कराया जाता है। सम्भव है यही तप्त कुण्ड इस स्थान की प्रसिद्धि का कारण हो।

मन्दिर अपनी प्रसिद्धि के अनुरूप नहीं है और भीतर द्वारों पर कटघरे-से लगा कर मानों भगवान् को भी बन्धन में डाल दिया है। द्वारपाल उन्हीं को सरलता से प्रवेश करने देते हैं, जो वेशभूषा से सम्भ्रान्त व्यक्ति जान पड़ते हैं। और मलिन वेश वाले दरिद्र, घंटों सतृष्ण दृष्टि से उन जाने-आने वालों को देखते रहते हैं। भीतर जा कर लाल पगड़ी वाले सिपाहियों को अन्तःद्वार की रक्षा करते देख कर हमारे विस्मय की सीमा नहीं रही। वे भी वस्त्रों को आदर की दृष्टि से देखते थे और दीन स्त्री पुरुषों को हाथ पकड़-पकड़ कर रोक देते थे। उस द्वार को भी पार कर नर नारायण की मूक प्रतिमा देखी, जिस पर न हर्ष था न विषाद, न कभी कुछ होने की आशा ही थी। केवल उनके पुजारी की आँखें हर्ष से नाच रही थीं; वे दोनों हाथों से चढ़ावे के थाल से चाँदी की

राशि बटोर रहे थे। भगवान् के लिए नहीं; परन्तु उनके पुजारी की प्रसन्नता के लिए मैंने भी रजत खंड चढ़ा कर विपण्ण मुख से विदा ली।

दूसरे दिन हमने निकटवर्ती चाँदी के पहाड़ पर चढना आरम्भ किया, जिसमें बड़ा आनन्द आया। कहीं-कहीं बर्फ जम कर ऐसी हो गई थी कि संगमरमर का भ्रम हो जाता था। न वह गलता था और न कुछ विशेष ठंढा लगता था। उससे ठंढा तो अलकनन्दा का जल था, जिसमें हाथ डालते ही उँगलियाँ ऐंठ जाती थीं। हवा में कुछ विशेष सर्दी नहीं मालूम हुई। मुझे तो गर्म कपड़े भी नहीं पहनने पड़े। जहाँ बर्फ पिघल रही थी, वहाँ से खोद कर कुछ बर्फ खाई और कुछ के गोले बना कर लाये।

तीसरे दिन प्रस्थान के समय फिर मन्दिर में जा कर फूलो की माला न मिलने के कारण जंगली तुलसी के पत्तों की माला चढ़ा कर बिदा हुए। पंडाजी सुफल बोलने के लिए उत्सुक थे; परन्तु मुझ से यह सुन कर कि मेरी यात्रा की सफलता मेरे मन पर निर्भर है, मौन हो रहे। उन्होंने मुझे प्रसाद दिया और मैंने उनके आतिथ्य के बदले में कुछ उन्हें अर्पण किया। केवल उनसे स्वर्ग के लिए प्रवेश-पत्र लेना मुझे स्वीकार नहीं था। बंगले मे लौट कर कैमरे का कुछ दुरुपयोग सदुपयोग किया। फिर नारायण-दत्तजी से मिल कर उनके आतिथ्य के बदले में कुछ भेंट देनी चाही। परन्तु उन्हें तो भगवान् के मन्दिर में रहने का सौभाग्य प्राप्त नहीं था, जो लक्ष्मी की चरण सेवा करना जानते। वे हमारी श्रद्धांजलि से ही संतुष्ट हो गये।

बदरीनाथ हमारा ऐतिहासिक तीर्थ स्थान है : परन्तु असंख्य यात्रियों में से दो-चार ने भी कभी इसकी दुर्व्यवस्था के कारणों पर विचार किया होगा ऐसा विश्वास नहीं होता । ग्राम गंदा है, मन्दिर टूटा जा रहा है और तप्त कुंड की ओर अलकनन्दा की धारा बढ़ती आ रही है । सम्भव है, किसी दिन यह पवित्र और ऐतिहासिक नगरी केवल पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोज का विषय रह जावे ।

## अभिनय कला

हमारे प्राचीन समाज में अभिनय कला का कितना महत्त्वपूर्ण विकास हुआ, यह नाटक के रूपकादि २८ प्रकारों तथा नाट्य-शास्त्र से प्रकट हो जाता है।

अवश्य ही आज हमें उस समय का अभिनय सम्बन्धी साहित्य कुछ अधिक संकीर्ण बन्धनों में बँधा जान पड़ेगा। प्रायः सभी नायक-नायिकाओं को एक ही सी रूपरेखा में अवतीर्ण होना पड़ता था तथा सभी कथानकों का सुख में ही अन्त निश्चित था। आधुनिक दृष्टिकोण से चाहे हम इसे एक बड़ी भारी त्रुटि समझ लें; परन्तु वास्तव में यह त्रुटि नहीं है। तत्कालीन विचारों की दृष्टि में किसी समाज की प्रारंभिक अवस्था बालक की अवस्था से भिन्न नहीं होती। अतः दोनों के ज्ञान प्राप्ति के साधनों में भी बहुत अधिक समानता रहती है। बालक के मन पर समवयस्क बालकों के हँसने, रोने तथा उनके अन्य कार्यों का उतना स्थायी और अनुकरण की प्रेरणा देनेवाला प्रभाव नहीं पड़ता, जितना उससे बहुत बड़े व्यक्ति के कार्यों और चेष्टाओं का। वह स्वभाव से ही अपने बड़े होने का स्वप्न देखना पसन्द करता है, अतः अपने से बड़े व्यक्तियों के प्रत्येक कार्य को विशेष ध्यान से देख कर उसका अनुकरण करने की चेष्टा किया करता है। इसी प्रकार

साधारण जनता के चित्त पर विशिष्ट व्यक्तियों के त्याग और बलिदान, सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति का जैसा अनुकरणशील प्रभाव पड़ता है, वैसा अपनी श्रेणी के व्यक्तियों के कार्यों तथा उनके सुख-दुःख का नहीं पड़ता। बालक के अनुकरण का पात्र बड़ा व्यक्ति है तथा सर्वसाधारण के अनुकरण का पात्र विशिष्ट व्यक्ति, जिसके चरित्र का आदर्श सन्मुख रख कर वह अपने जीवन का निर्माण करना चाहता है। समाज में विरागियों की संख्या कम नहीं; परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ का विराग ही हमारे अन्तस्तल में अंकित रह जाता है। अनेक साध्वियां कष्ट सहती हुई प्राण देती रहती हैं, परन्तु मैथिली जैसी सती की अग्नि-परीक्षा ही हमारे हृदय में दीपक की तरह जलती रह सकती है। हम उसी का अनुकरण करना चाहते हैं, जो हमारा अग्रगामी हो।

सम्भवतः मानव-समाज की इसी दुर्बलता को देख कर प्राचीन काल के कलाविदों ने विशिष्ट व्यक्तियों के आदर्श चरित्रों को अभिनय के लिए चुना। इन चरित्रों के उत्थान पतन, अन्तर्द्वन्द्व तथा आपत्तियों से जनता अधिक प्रभावित होती थी। इसके अतिरिक्त अभिनय का आरम्भ भी देव-मन्दिरों में देव देवियों के चरित्र-चित्रण द्वारा हुआ था, फलतः उसमें साधारण चरित्रों को प्रमुखता मिलना अधिक सामाजिक विकास और विस्तृत दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता था। वैसे उसमें विदूषक तथा अन्य साधारण चरित्रों का समावेश रहता अवश्य था; परन्तु कथानक का नायकत्व किसी विशिष्ट व्यक्ति को मिलना अनिवार्य था। इस

प्रयत्न से नायक-नायिकाओं में कुछ एकरूपता अवश्य आ गई, परन्तु इससे समाज की उद्देश्य-सिद्धि और कला के विकास में बाधा नहीं पड़ी।

दुःखान्त कथानकों के विषय में प्राचीन कलाविदों के विचार हमारे विचारों से भिन्न थे। उनकी दृष्टि में जो कुछ सुन्दर, सत्य और कल्याणमय था, उसका नाश सम्भव ही नहीं था। उसे अमरता का चिरन्तन अधिकार था। केवल कुत्सित, कुरूप, असत्य और अमंगलकर ही मृत्यु का अधिकारी था। परन्तु कुत्सित असत्य को वे अपने कथानक में प्रमुख स्थान नहीं देते थे, अतः उसका दुःख या मृत्यु में अन्त असम्भव ही था। जैसे प्रयत्न से वे अपने अभिनय के लिए आदर्श चरित्र चुनते थे, वैसी ही सतर्कता से वे उस चरित्र को नष्ट होने से बचाते थे। आपत्तियों और बाधाओं के आँधी-तूफ़ानों से लोहा लेना उन्हें अच्छा लगता था, दुःख के अथाह समुद्र को पार कर जाना उनका लक्ष्य था; परन्तु पराजय और वह भी कुत्सित के द्वारा सुन्दर की, असत्य के द्वारा सत्य की, मृत्यु के द्वारा जीवन की पराजय उन्हें असह्य थी। इस तर्क के युग में हमें चाहे यह इच्छा उपहासास्पद जान पड़े, परन्तु जीने के इच्छुक के लिए यह मृत्युंजय मन्त्र का प्रभाव रखती है। वास्तव में यदि मनुष्य को सत्य और सौन्दर्य की अमरता में विश्वास न हो, तो उनके प्रति उसका आकर्षण भी न रह जावे, इस साधारण सत्य को प्राचीन कलाकारों ने भलीभाँति समझा था। इसी से वन की हरिणियों के साथ खेलनेवाली भोली शकुन्तला, भरी सभा में राजा पति के द्वारा मिथ्यावादिनी ठहराई

जा कर भी आधुनिक युग की निराश रमणी की तरह न आत्म-हत्या कर सकती है और न प्रतिशोध लेने को पागल हो उठती है। उसका सौन्दर्य, उसकी सरलता, उसका विश्वास और उसका अयाचित प्रेम ऐसे शाश्वत् गुण हैं, जिनका नष्ट होना तो सम्भव ही नहीं, साथ ही जिनके बिना दुष्यन्त का दर्पपूर्ण पुरुषत्व भी पूर्ण नहीं हो पाता। उसके लिए यदि पृथ्वी पर दुष्यन्त से मिलन सम्भव नहीं, तो वह उससे अन्तरिक्ष में मिलेगी; परन्तु मिलेगी अवश्य। इस दृष्टिकोण से चाहे हम सहमत न हों; परन्तु इसे कला के लिए बाधक सिद्ध करना कठिन होगा। आज तक शकुन्तला से अधिक सुन्दर और सरल चरित्र की सृष्टि हम नहीं कर सके हैं और भविष्य में कर सकने की सम्भावना भी कम है। शकुन्तला की मृत्यु या उसके चिर वियोग से नाटक चाहे दुःखान्त होता चाहे नहीं; परन्तु सौन्दर्य और सत्य में हमारे विश्वास की अवश्य ही दुःखमय मृत्यु हो जाती।

वास्तव में करुण रस का परिपाक अन्त पर निर्भर भी नहीं रहता। कितने ही दुःखान्त कथानक ऐसे है, जिनके अन्त हमें प्रसन्न कर देते है खिन्न नहीं, और कितने ही सुखान्त ऐसे हैं जिनके अन्त में हम जीवन पर मँडराती हुई विषाद की छाया देख कर अस्थिर हो उठते हैं। भवभूति के उत्तर रामचरित्र का अन्त हमें उतना करुणा से आर्द्र नहीं करता, जितना राम और सीता का अन्तर्द्वन्द्व। अभिनय में आनन्द या करुणा की प्रधानता दर्शकों के मनोभावों द्वारा आँकी जानी चाहिए, कथा के सुख या दुःखमय अन्त से नहीं। अभिनय यदि हमारे सुख-दुःख के संघर्ष, जीवन की

जटिल समस्याओं और मानव हृदय के आजीवन न मिटने वाले अन्तर्द्वन्द्व की दुरूहता को यथार्थ रूप से चित्रित कर सके तो वह सकरुण है, यदि वह सत्य, शिव और सुन्दर की अमरता का ज्ञान करा सके तो वह आनन्दमय है। उस युग की अभिनय-कला का यही मूलमन्त्र था और बहुत समय तक रहा।

वर्तमान काल में हमें अभिनय-कला का जो परिचय मिला, वह व्यवसायी पारसी थियेटर कम्पनियों के रंगमंच पर ही मिल सका। यह आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी नाटकों के आविर्भाव से लेकर अब तक हमारा कोई रंगमंच नहीं रहा। व्यक्तिगत रूप से कभी कुछ व्यक्तियों ने मनोविनोद के लिए किसी नाटक का अभिनय कर भी लिया तो उससे किसी स्थायी रंगमंच की स्थापना नहीं हो सकी।

फलतः हमारा हिन्दी नाटक साहित्य जितनी अध्ययन की वस्तु है, उतनी अभिनय की नहीं। उसमें अभिनय, अभिनेता तथा दर्शकों का उतना ध्यान नहीं रखा जाता, जितना अध्ययनशील पाठकों का। इसी से हमें उनका, पाठ्य पुस्तकों की तरह अध्ययन अभिनय से अधिक सुगम जान पड़ता है। यदि अपना कोई रंगमंच रहता तो उसकी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए हम इस कला के द्वारा अपनी संस्कृति, अपने आदर्श और अपने इतिहास को सर्वसाधारण के हृदयों में जीवित रख सकते थे। जो व्यवसायी थियेटर कम्पनियां जनता की दर्शक रुचि से लाभ उठाने आईं, उन्हें हमारी संस्कृति का, इस कला के महान् सामाजिक लक्ष्य का न ज्ञान था और न उन्हें इसकी आवश्यकता ही जान पड़ी। जनता

कोई भी खेल देखने के लिए मचले हुए बालक के समान व्यग्र हो रही थी। उसे न अभिनय विषयक कोई ज्ञान था और न उसके सम्मुख रंगमंच की कोई रूपरेखा थी, जिससे वह इन कम्पनियों के अभिनय और मंच की तुलना कर सकती। यदि उसके सम्मुख मंच पर अप्सराएँ उड़ने लगतीं, तो भी उसे कौतुक मिश्रित प्रसन्नता होती और कठपुतलियाँ नाचतीं, तो भी उसने जो देखा उसी की प्रशंसा की और उसके कौतुक प्रिय स्वभाव से लाभ उठा कर यह व्यवसाय बिना सामाजिक या सांस्कृतिक लक्ष्य के, बिना अभिनय कला के ज्ञान के दिनोदिन वृद्धि पाने लगा।

हमें इन रंगमंचों से अकस्मात् कभी-कभी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री भी मिलती रही, यह अस्वीकार करना सत्य की उपेक्षा करना होगा; परन्तु अधिकांश में वहाँ सस्ती उत्तेजना बढ़ाने वाले गीत, कामुकता को प्रश्रय देने वाले नृत्य और विकृत प्रभाव डालने वाले चरित्रों का ही प्राधान्य रहा। इन रंगमंचों ने वह दिया जिसे रासधारी, राधाकृष्ण के बहाने देने का निष्फल प्रयत्न करते थे और इन्होंने वह छीन लिया जिसे रामलीला वाले, सफलता-पूर्वक देते थे। इनके पास साधन थे। चमत्कृत कर देने वाले दृश्य चकाचौंध कर देने वाला प्रकाश, कौतूहल उत्पन्न कर देने वाली वेश भूषा और असंयत अभिनेता-अभिनेत्रियों के दल ने विकृति को भी प्रकृति के रूप में दिखाया। परन्तु यदि यह व्यवसायी रंगमंच न होते, तो अभिनय-कला की ओर हमारा ध्यान न जाता।

उसके उपरान्त जो मूक चलचित्रों का युग आया, उसे अभिनय के विकास का विशेष श्रेय मिलना उचित है। उसके

निकट रंगमंच का स्थान संकोच न हो कर वाणी का संकोच था। उसे सभी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व तथा परिवर्तनों को केवल मुख के भाव तथा अंग की चेष्टाओं से ही प्रकट करना पड़ता था, अतः अभिनय-कला की ओर विशेष ध्यान देना अनिवार्य हो उठा। अवाक् चित्रों को सफलता तो मिली; परन्तु रंगमंच अपनी वाणी के कारण आकर्षक बना रहा। उसकी सजीवता, उसका संगीत और उसकी रंगीनी अनेकों व्यक्तियों को अपनी ओर खींचती रही। प्रायः उसकी तुलना में मूक चलचित्र छाया से जान पड़ते थे।

परन्तु सवाक् चलचित्रों के आविर्भाव के साथ अभिनय-कला का एक ऐसा अभूतपूर्व नवीन युग आरम्भ हुआ है, जिसके उज्ज्वल भविष्य के विषय में किसी को सन्देह नहीं होता, यह कहना तो कठिन है; परन्तु यदि इसे केवल व्यवसाय का साधन न बनाया जावे तो अवश्य ही यह हमारी सामाजिक प्रगति में सहायक रहेगा। इसकी भी अपनी कठिनाइयाँ हैं। इसमें स्थान का संकोच है। न अभिनेता-अभिनेत्रियों के सामने प्रशंसा के लिए उत्सुक, सजीव और जागरूक दर्शक-समूह रहता है और न दर्शकों के सम्मुख भावतन्मय जीवित-जागृत अभिनेता-अभिनेत्री। इस छाया-काया के सम्मेलन को कला का चरमोत्कर्ष ही सजीव बना सकता है। उसकी अनुपस्थिति में यह जीवित जन-समूह के सामने चित्रमय जगत् मात्र रह जाता है। अभिनेताओं की कठिनाइयाँ भी कम नहीं। हमारे सत्य सुख-दुःख भी दूसरों को प्रभावित करने पर अधिक सत्य जान पड़ते

है। तब फिर अभिनीत सुख-दुःखों को दूसरों के सहयोग की कितनी अपेक्षा रहती होगी, इसकी कल्पना कठिन नहीं। जहाँ प्रत्येक भाव की प्रतिध्वनि बनने के लिए उत्सुक हृदय नहीं, वहाँ कुछ निश्चित क्षणों में किसी विशेष भाव को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देना सहज नहीं हो सकता। इस कार्य के लिए जिस कला की आवश्यकता होती है, वह निरन्तर साधना और मानव-स्वभाव के विस्तृत अध्ययन पर जितनी निर्भर है उतनी किसी बाह्य उपकरण पर नहीं।

सवाक् चित्रों से रंगमंच केवल इसलिए पराजित नहीं हुआ कि उसके मार्ग में कठिनाइयाँ अधिक थीं, वरन् इसलिए कि उसकी कला परिष्कृत रूप तक पहुँच ही नहीं पाई थी। वाक्पट रंगमंच को भुला देने के सभी उपकरण लेकर आया और जनता ने नवीन और प्राचीन की तुलना में नवीन को ही अधिक आकर्षक पाया। शक्ति का प्रयोग लाभ के लिए जितनी सुगमता से हो सकता है, हानि के लिए उससे भी अधिक सुगमता से किया जा सकता है। प्रायः शक्ति की मात्रा हानि की मात्रा से नापी तोली जाती है, लाभ की मात्रा से नहीं। इसी से प्रायः सवाक् चित्र, रंगमंच से अधिक उत्तेजक सामग्री दे कर जनता की विकृत रुचि को और विकृत बना कर अपनी शक्ति का परिचय देने का लोभ न रोक सके।

इसके साथ व्यवसाय का प्रश्न भी था। जनसाधारण को उसकी रुचि के विरुद्ध कुछ देना हठी बालक को बहलाने के समान कठिन है। वह सुन्दर से सुन्दर वस्तु को फेंक कर उसी को

लेना चाहेगा जिसके लिए उसने हठ ठाना हो। वाक्पट, रंगमंच के स्थान संकोच और मूकपट के वाणी संकोच से रहित और इन दोनों की विशेषताओं से युक्त होने के कारण सामाजिक विकास और जनता की रुचि को परिष्कृत करने में जितना समर्थ है, उसे विकृत करने में भी उतना ही क्षम है। उसमें कला का विकास भी सम्भव है और ह्रास भी। केवल व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखे जाने के कारण वह सर्वसाधारण की रुचि परिष्कृत नहीं बना सका, यह स्पष्ट है। एक ओर सुधार मंच पर, सस्ती उत्तेजना वर्धक वासनामूलक नृत्य और नर्तकियों के बहिष्कार के प्रस्ताव हो रहे थे और दूसरी ओर सवाक् चलचित्रों के रंगमंच पर अर्धनग्नता के निकृष्ट प्रदर्शन का अभिनन्दन हो रहा था। एक ओर जनता को प्रगति के पथ पर बढ़ने का उपदेश दिया जाता था और दूसरी ओर असंस्कृत निर्लज्ज अभिनयों द्वारा प्रमत्त बना कर गिरना सिखाया जाता था। विनोद के लिए रखे गये दृश्य भी मर्यादा व संकोच की सीमा का अतिक्रमण कर जाते थे।

अवश्य ही अपने छोटे-से जीवन में सवाक् चलचित्रों ने हमे ऐसे अनेक कलापूर्ण चित्र भी भेंट किये है, जिनसे हमें अपनी संस्कृति और समाज का यथार्थ ज्ञान हो सका; परन्तु चित्रों की संख्या देखते हुए वे नगण्य है। अभिनय-कला का वास्तविक उपयोग तो समाज की रुचि को अधिक परिष्कृत बना कर उसे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाना ही है। यदि आधुनिक युग में इतने साधनों से पूर्ण होने पर भी हमारी अभिनय-कला अपने महान्

सांस्कृतिक और सामाजिक लक्ष्य से शून्य रही, तो वह हमें एक पग भी आगे न बढ़ा सकेगी।

जीवन में जो कुछ कुत्सित, अस्थिर, अमंगलकर और असंस्कृत पशुत्व है, उसी में सुन्दर, शाश्वत्, कल्याणमय और संस्कृत देवत्व को ढूँढने के प्रयत्न में कला का जन्म और उसकी अभिव्यक्ति में कला की सिद्धि है। इसीसे मनुष्य ने उसके बिना अपने आप को अपूर्ण अनुभव किया है और सदा करता रहेगा। अभिनय हमारी केवल प्राचीन ही नहीं, प्रिय कला भी है। यदि हम जीवन को अधिक परिष्कृत और सुन्दर बनाने में इसका उपयोग करें, तो इससे व्यक्ति और समाज दोनों ही अधिक पूर्ण हो सकेंगे। वैसे विकृत मात्रा में तो ओषधि भी विष हो जाती है।

# हमारा देश और राष्ट्रभाषा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकार और आत्मा दोनों दृष्टियों से महान् और सुन्दर है। उसका वाह्य सौन्दर्य विविधता की सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौन्दर्य विविधता में छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणों की रेखाओं से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढ़े हुए मरु हो, चाहे साँवले भरे मेघ हों, चाहे लपटों में साँस लेता हुआ ववंडर हो, सब अपनी भिन्नता में भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अंग का टूट जाना सम्पूर्ण देव-विग्रह को खंडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखंडता के लिए विविधता की स्थिति है।

यदि इस भौगोलिक विविधता में व्याप्त सांस्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनों का संग्रह मात्र रह जाता। परन्तु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अन्तरात्मा को एक रसमयता में प्लावित कर के इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि में बंध जाता है।

हर देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुड़ा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता में है। तीसरी सब से गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक गतिशीलता में है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास में योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आन्तरिक और सूक्ष्म स्थितियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डालती और एक दूसरी से सम-मित होती चलती है।

एक विशेष भू-खंड में रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, सम्पर्क और संघर्ष अपने वातावरण से ही होता है और उससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका कर्म-जगत् ही संचालित नहीं होता, प्रत्युत अन्तर्जगत् और मानसिक संस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनिषेधमयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनन्त विकास-क्रम में बँधकर ही एक विशेष भूमंडल में स्पन्दित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते है। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी पर्वत वन का समूह है, न शून्य में स्थिति रखने-वाले मानवों की भीड़ मात्र।

एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर से सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट संकल्प स्वप्न तक एक ही इकाई है।

वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितियाँ क्षणजीवी होती हैं; परन्तु उनके संस्कारों का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है; परन्तु उसका सांस्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवरुद्ध होने पर ही सम्भव है।

वैसे व्यापक अर्थ मे मानव-संस्कृति एक ही है, क्योंकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का संस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है, परन्तु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसका आँधियों से लोहा लेने वाला तना, मन्द वायु के सामने झुकने वाली शाखाएँ चिर चंचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सब का अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अंगों का गठन और विकास एक रूप नहीं होता, वैसे ही मानव-संस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पाषाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव में जितना समृद्ध है, अपनी आन्तरिक विभूतियों में उससे कम गुरु नहीं। उसकी मूल समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनों को जोड़ने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकल कर एक समुद्र में मिलने के पहले अनेक धाराओं में बिखर बट कर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर

पास के अंगों से रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुन अनेक में लौट जाना ही शरीर की संचालक शक्ति है. इसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केन्द्र बिन्दु को छू कर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रकृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएँ तत्त्वत: एक रही हैं. इसीसे हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता में भी एक ही हैं।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कंठ और कंठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एक रूपता नहीं रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र मे विविध भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है: परन्तु किसी भी जीवित जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सिक्कों मे नहीं की जा सकती, जो बाजार में क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुत: भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है; पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो उसे मिट्टी धूप पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भूभाग में रहने वाले मानव-समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ उस समूह के जीवन, सुख-दुख आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकांक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अत: भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध में बंधी रहती है क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं

रहती। यदि हमारी थोड़ी-सी स्थूल आवश्यकताएँ हैं, तो उन्हे व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-संकेत ही पर्याप्त होंगे।

किसी हाट में क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दो की संख्या अधिक नही होती ; परन्तु जब हम अपने भाव-जगत्, विचार-मंथन सौन्दर्यबोध आदि को आकार देने बैठते है, तब हमें ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, जो भाव के हर हल्के गहरे रंग को व्यक्त कर सके, बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौन्दर्य की हर सूक्ष्म स्थूल रेखा को आंक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते है कि उसे बोलनेवाली जाति सांस्कृतिक दृष्टिसे विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। संस्कृति या समकृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिन्तन, संकल्प, भाव अनुभूति की दीर्घ और अटूट परम्परा छिपाये रहता है, इसीसे संस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनों सीमाएं छूता हुआ चलता है। भाषा संस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अतः वह भी अनेक संकेतों और व्यजनाओं में ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अन्धकार के अनेक युग पार किये है, परन्तु अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकान्त सावधान रहा है...उसमें अनेक विचार-धाराएँ समाहित हो गई, अनेक मान्यताओं ने स्थान पाया; पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसके अन्तर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी

प्रकार उद्भाषित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रतिबिम्बित होकर उसे आलोक की रेखा बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियों के समान भारतीय भाषाओं के वाह्य और आन्तरिक रूपों में उत्पन्न विशेषताओं का संगमित हो जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं; परन्तु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चिन्तन और भावजगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में दो हमारे पास हैं, भौगोलिक अखंडता और सांस्कृतिक एकता; परन्तु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिसमें एक स्वतन्त्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहाँ तक बहु भाषाभाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न भागों में भिन्न भाषाओं की स्थिति है। पर, उनकी अविच्छिन्न स्वतन्त्रता की परम्परा ने उन्हें सम-विषम स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतन्त्रता आंधी तूफ़ान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक सम्पर्क तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कम्पित कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मन्द समीर के समान साँस में समा कर शरीर में व्याप्त हो गई है। हमने अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से

उसके भार को दुर्वह नही अनुभव किया और हमें यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित देश पर राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही सन्तुष्ट नहीं होता, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है न स्थायी। घटनाएँ संस्कारों में चिर जीवन पाती हैं और संस्कार के अक्षय वाहक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नहीं रही, वह हमारे विद्वान् और संस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति में यदि हममें से अनेक उसके अभाव में जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं। पर रोग की स्थिति को स्थायी मान कर तो चिकित्सा सम्भव नहीं होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उसके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न साध्य है, क्योंकि शरीर को बाँधनेवाली शृंखला से आत्मा को जकड़नेवाली शृंखला अधिक दृढ़ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के सम्बन्ध में विवाद नही है; पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनों को लेकर ऐसी विवादैषणा जागी है कि साध्य ही दूर से दूर तक होता जा रहा है। विवाद जब तर्क की सीधी रेखा पर चलता है, तब लक्ष्य निकट आ जाता है; पर जब उसके मूल में आशंका, अविश्वास और अनिच्छा रहती है, तब कहीं न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।

आधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों का अन्तर दूर कर एक देश को दूसरे के पास पहुँचा दिया है, जब अणु बम की

अन्तक छाया में भी अमर मानवता जाग उठी है और जब ध्वंस की लपटों के नीचे भी निर्माण के अंकुर सिर उठा रहे हैं, तब हम अपने मनों की दूरी बढ़ा कर, सन्देह के प्राचीर खड़े कर और विरोध के स्वरों में बोल कर अपनी महान परम्पराओं की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुन्दर स्वप्न अनेक सुन्दर स्वप्नों में समा कर जीवन को विराट् सौन्दर्य देता है, एक शिव संकल्प अनेक शिव सङ्कल्पों में लीन होकर मनुष्य को विशाल चिन्तन देता है, एक निष्ठामय कर्म अनेक निष्ठामय कर्मों से मिल कर विश्व को अक्षय गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं में मिल कर जीवन को विरूप कर देता है। एक अविश्वास अनेक अविश्वासों के साथ मनुष्य को असत्य कर देता है और एक आघात अनेक आघातों को पंक्तिबद्ध कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौन्दर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियों के साथ रह कर जिन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वयं उत्तर बन जायेंगे।

जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओं की सहोदरा और एक विस्तृत विविधता भरे प्रदेश में अनेक देशज बोलियों के साथ पल कर बड़ी हुई है। अवधी, ब्रज, भोज-पुरी, मगही, बुँदेली, बघेलखंडी आदि उसकी धूल में खेलने वाली चिर सहचरियाँ हैं। इनके साथ कछार और खेतों, मचान और झोपड़ियों, निर्जन और जनपदों में घूमघूम कर उसने उजले आँसू और रंगीन हँसी का सम्बल पाया है।

साधकों ने अपने कमंडल के पूत जल से इसे पवित्र बनाया है। म्राज्यवाद का स्वर्ण मुकुट न इसकी धूल धूसरित उन्मुक्त अलकों बाँध सका है, न बाँध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का ा क्या उसे बुझा नहीं देगा ?

जब राजतन्त्र के युग में भी वह द्वार-द्वार पर समानता का ख जगाती रही, तब आज जनतन्त्र के युग में उसके लिए दि की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की ा ही कही जायगी।

हिन्दी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय हे हैं। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के दो शरीरों की परिकल्पना।

हिन्दी की विशेषता उसकी मुक्ति में रही है, इसका प्रमाण शब्दकोष में मिल सकेगा। उसने देशज बोलियों तथा ादेशी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने में न कभी संकीर्णता और न उन्हें अपना बनाने में दुविधा का अनुभव किया। है विकसित परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई व ा रूप या मानदंड न हो, ऐसा सम्भव नहीं होता।

अ ज हिन्दी में साहित्य सृजन करने वालों में कोई बिहार बा ो भाषी है कोई मथुरा का बृज भाषी। परन्तु बुन्देलखंडी के ले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, बैसवाड़ी बोलनेवाले कविवर से और कुमाऊँनी बोलनेवाले श्री सुमित्रानन्दनजी क्या की प से हिन्दी के वरद पुत्र नहीं कहे जाते! यदि हिन्दी चुके ी हिन्दी, अवधी हिन्दी, बुन्देली हिन्दी नहीं बनाया जा

सकता है, तो उसका कारण हिन्दी का वह संश्लिष्ट रूप और मूल-गत गठन है जिसके बिना कोई भाषा महत्त्व नहीं पाती।

अंग्रेजी भाषा भाषी विश्व भर में फैले हैं, उनमें देशज संस्कार भी है; परन्तु इससे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन खंडित होता है और न उसे नए नामकरणों की आवश्यकता होती है। विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं के संबंध में यह सत्य है। परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है; पर परिवर्तन में अन्तर्निहित एक तारतम्यता उसके जीवन का प्रमाण है। शिशु से वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है; परन्तु उसकी मूलगत एकता अक्षुण्ण रह कर उसे एक संज्ञा से घेरे रहती है। भाषा केवल संकेत लिपि नहीं है, प्रत्युत उसके हर शब्द के पीछे संकेतित वस्तु स्पन्दित रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है। अतः एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है।

भाषा भी गढ़ी जाती है; परन्तु वह कुम्भकार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अंकुर-निर्माण है। जिस प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नए लक्ष्य से जोड़कर हम उसके अप्रत्यक्ष आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं, उसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियों से नए भाव, नई वस्तु, नए विचार जोड़कर हम उसे नए रूपों से समृद्ध करते रहते हैं। हिन्दी का प्राकृत से बृज-अवधी तथा उनसे खड़ी बोली तक आने का क्रम जितना आश्चर्यजनक है उतना ही अनायास, क्योंकि जिस लोकहृदय ने

माथ यह विकसित हुई, उससे इसका धरती और बीज का मा सम्बन्ध था जिसमे एक दे कर पाता है और दूसरा पाकर देता है।

हिन्दी अपना भविष्य किसी से दान मे नही चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी नदी की गति रोकने के लिए शिला नही बन सकती, उसी नियम से हिन्दी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नहीं कर सकती।

यह आकस्मिक संयोग न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है, जिसके कारण हिन्दी के भावी कर्तव्य को जिन्होंने पहले पहचाना वे हिन्दी भाषा भाषी नही थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गान्धी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्यकार, धर्म-संस्थापक, साधक और चिन्तक हिन्दी के जिस उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिन्दी लक्ष्य तक नहीं पहुँच जायगी, क्योंकि स्वीकृति मात्र न गति है न गन्तव्य। वस्तुतः सम्पूर्ण भारत संघ को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए उसे दोहरे सम्बल की आवश्यकता है। एक तो आन्तरिक जो मन के द्वारों को उन्मुक्त कर सके और दूसरा बाह्य जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशों के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नही है, क्योंकि दीर्घकाल से वह सन्त साधकों की मर्मबानी बन कर ही नहीं, हाट बजार की व्यवहार बोली के रूप में भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशों से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान खंडित और अतीत मिथ्या हो जायगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदों का केन्द्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना माँजा और खरादा है कि उसे किसी बड़ी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यंत्रों के साथ अपनी संगति बैठा लेगी, परन्तु तत्सम्बन्धी विवादों ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्ठव को भी कुंठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुरूह लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का सन्देश वहन करने में समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाएं दुर्लंघ्य कैसे मानी जा सकती है।

स्वतन्त्रता ने हमें राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तन्त्र और उसके संचालक भी उसके अपवाद नहीं हो सकते परन्तु हमारे पथ की सब से बड़ी बाधा यह है कि हमारी स्वतन्त्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अन्धकार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय में पैठ सके ऐसा कोई बाण अँधेरे के तूणीर में नहीं होता। यदि हमारी आत्मा में विश्वास की निष्कम्प लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा को सीखना उसके साहित्य को जानना है और साहित्य को जानना, मानव-एकता की स्वानुभूति है। हम जब साहित्य

के स्वर में बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर समुद्रों पर सेतु बांधकर, दुर्लंघ्य पर्वतों को राजपथ बनाकर मनुष्य की सुख-दुःख कथा मनुष्य तक अनायास पहुँचा देते हैं।

अस्त्रों की छाया में चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियों के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं; पर मानव-एकता के पथ पर पड़ा कोई चरण-चिन्ह अब तक नहीं मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब तक भंग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनन्त युगों में जो मातृमूर्ति गढ़ी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वंदेमातरम् तक एक, अखंड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोंच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिन्दी केवल कंठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका सन्देश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बन कर निःशेष नहीं हो जाता, वरन् आत्मा से मिलकर अनन्त स्वप्न-संकल्पों में फूलता-फलता रहता है ।

हिन्दी के धरातल पर सन्त रविदास और भक्त सूरदास पग मिला कर चले हैं और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कन्धा मिला कर खड़े हुए हैं।

जहाँ सम्प्रदायों की कठिन सीमाएँ भी तरल होकर गल गईं, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी !

# साहित्य और साहित्यकार

मनुष्य का विकास समस्याओं का विस्तार है, यह आज के युग में जितना सत्य है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य युग में रहा हो।

विज्ञान एक ओर मनुष्य की भौतिक समस्याओं को हल करता है दूसरी ओर उसकी मानसिक समस्याओं को जटिलतर बनाता चलता है। उसने मनुष्य की, हानि पहुँचाने वाली प्रवृत्ति को उसकी शक्ति का मापदंड बनाकर जीवन में एक चिन्तनीय स्थिति उत्पन्न कर दी है। आतंक के पखों पर आने वाली ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ अपने वेग के कारण तुरन्त दृष्टि का केन्द्र बन जाती हैं, पर निर्मायिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व उनके निर्माण में ही व्यक्त हो सकता है। हम आँधी, वज्रपात के समय आकाश की ओर जितने उन्मुख होते हैं, उतने सुनहली धूप में नहाते समय नहीं। किसी ज्योतिःपिंड का टूटना, हमें जितना विचलित करता है उतना अंकुर का धरती से फूटना नहीं। वैसे ज्योतिःपिंड के टूटने में सनातन ऋत नियम टूटता है, अंकुर फूटने में वह नियम अखंड रहता है। इसी से आलोकित आकाश से धरती पर गिर कर ज्योतिःपिंड आलोकरहित शिलाखंड मात्र रह जाता है और अंकुर पल्लवित होकर धरती के अन्धकार में आकाश के आलोक की ओर बढ़ता है।

साहित्य मूलतः निर्माण है, व्यक्ति के लिए भी और समष्टि के लिए भी, अतः उसे सृजन के किसी विराट् ऋत की परिधि में चलने वाले एक जीवन-ऋत की ही संज्ञा दी जा सकती है। सृजन के अन्य महान् ऋतों के समान ही वह वरदान और अभिशाप का भागी है।

वरदान है कि मानव जीवन की विकास परम्परा को खड-खंड बिना किये उसे खंडित नहीं किया जा सकता। अभिशाप है कि उसकी स्थिति में दूसरों की आस्था ही उसकी उपेक्षा का कारण बन जाती है।

आज के विज्ञान समृद्ध और राजनीति अनुशासित युग में भी यदि किसी देश से कहा जावे कि उसे साहित्य के बिना जीना चाहिए तो वह विस्मित भी होगा और रुष्ट भी। उसे यह सुझाव जीवन के निषेध जैसा भी लग सकता है और बर्बरता के लांछन जैसा भी। परन्तु यदि संसार के सब महान् साहित्यकार समवेत स्वर मे घोषणा करे कि वे साहित्य-सृजन नहीं करेंगे, तो न कोई उनका विश्वास करेगा और न उन्हें इस निश्चय से विरत करने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अन्य क्षेत्र के व्यक्ति, चाहे वे वैज्ञानिक हों चाहे श्रमिक, यदि अपने कार्य से विरत होने की घोषणा करें, तो उन्हें रोक सकने के लिए दंड और पुरस्कार दोनो के विविध उपयोग किये जायँगे।

इस प्रत्यक्षतः उपेक्षित स्थिति के मूल में साहित्य के प्रति कोई अटूट आस्था नही है, यह मान लेना उचित न होगा।

हम रात भर सूर्य से लौटने के लिए प्रार्थना नहीं करते।

हम ग्रीष्म की दोपहरियों में समुद्र तट पर बैठकर उससे बादल भेजने के लिए निहोरा नही करते। हम साँस के लिए पवन के पास दूत नही भेजते; पर क्या इससे यह प्रमाणित नही होता कि हमे उनकी निरन्तर उपलब्धि में अखंड विश्वास है। साहित्य का प्रश्न भी बहुत कुछ ऐसा ही है। साहित्य की स्थिति में आस्था रखने के कारण ही हम उसके स्रष्टा के अस्तित्व के विषय में आश्वस्त रहते हैं। साहित्य हमारे निकट जीवन की गम्भीर अभिव्यक्ति है, उसका अलंकार मात्र नही. अत. उसकी प्राप्ति की दिशा में हमारे सावधान प्रयत्न मात्र पर्याप्त नहीं होते।

पर इस आस्था ने साहित्यकार के जीवन के सभी प्रश्नों को दोहरे समाधानों से बाँध दिया है। उसकी महानता और लघुता की कसौटी समाधानों के चुनाव में है। वह व्यक्ति भी है और सस्था भी। व्यक्ति किसी निर्माण को समग्रता में न देखते हुए भी श्रम कर सकता है; परन्तु संस्था को तो समग्रता में ही निर्माण करना होता है।

व्यक्ति यदि जीवन के किसी अंश का मूल्यांकन है, तो संस्था अनेक मूल्यांकनों का मूल्यांकन कही जायगी। साहित्यकार यदि व्यक्तिगत सीमाओं को सर्वथा भुला दे, तो वह भीड़ का अंग मात्र रह जाता है और यदि वह समष्टि का विस्तार भूल जावे, तो एकाकी रह जाता है। इसीसे जीवन के सरल प्रश्न भी उसकी सीमा में आते ही जटिल हो जाते हैं, तो आश्चर्य की बात नही।

साहित्य-सृजन केवल रुचि, इच्छा या विवशता का परिणाम

नही है, क्योंकि उसके लिए एक विशेष प्रतिभा और उसे सम्भव करने वाले मानसिक गठन की आवश्यकता होती है।

किसी अनिवार्य विवशता, किसी सर्वथा प्रतिकूल परिस्थिति मे यह प्रतिभा कुंठित हो सकती है, यह मानसिक गठन विघटित हो सकता है; परन्तु केवल स्ववशता और अनुकूल परिस्थिति मानसिक गटन का निर्माण कर इस प्रतिभा का सृजन करने में समर्थ नही होती। इसी से हम महान् प्रतिभाओं को इच्छानुसार बाजीगर के चमत्कार के समान प्रत्यक्ष और तिरोहित नही कर पाते।

मनुष्य अपनी रागात्मक व्याप्ति के बिना समष्टि में पहचाना नही जा सकता। वह अपने बौद्धिक विस्तार के बिना माना नही जा सकता और इस व्याप्ति और विस्तार के मूल्यांकन के अभाव में मानव जाति की प्रगति का लेखा-जोखा अमिट नही रह सकता। नदी जिस प्रकार दोनों तटों को अलग-अलग स्पर्श करके भी अपनी एकता में एक रखती है, उसी प्रकार साहित्य भी जीवन की भिन्न जान पड़ने वाली वृत्तियो को अपने स्पर्श की एकता मे एक रखता है।

वह बहुमुखी दायित्व देने वाला ऐसा रागात्मक कर्म है जिसके कारण साहित्यकार की स्थिति को एक कोण से देखना कठिन हो जाता है।

उसका सृजन न केवल श्रम है और न आजीविका के लिए स्वीकृत कोई पेशा या व्यापार मात्र। न वह व्यक्ति का निरानन्द आत्मदान है और न समाज से औपचारिक आदान।

केवल श्रमिक की स्थिति स्वीकार कर लेने पर मूल्य की माप मात्र उसके हाथ रहती है। श्रम का प्रकार दूसरे की इच्छा और आवश्यकता पर निर्भर हो जाता है। श्रम लेने वाले और देने वाले की स्थिति का व्यावहारिक आधार निश्चित और स्पष्ट होने के कारण श्रम और मूल्य के अनुपात संबंधी प्रश्नों को सुलझाना कठिन नहीं हो सकता।

यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि से स्वीकृत कोई एक व्यापार मान लिया जावे, तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए मुक्त क्षितिज मिल सकता है और न उक्त कर्म में उसके अविच्छिन्न लगाव को उचित कहा जा सकता है।

यदि उसमें एक व्यापार के लिए आवश्यक कुशलता का अभाव है, तो दूसरे क्षेत्र से अपनी पटुता की परीक्षा उसके लिए अनिवार्य हो जायगी।

साहित्य को समाज के प्रति व्यक्ति का निरानन्द दान या समाज का व्यक्ति को बलात सौंपा हुआ कर्म मान लेने पर वह विवशता का पर्याय हो जाता है और हर विवशता के लिए मनुष्य के मनोजगत् में विद्रोह ही स्वाभाविक है।

वस्तुतः साहित्य की समस्याएं जीवन की समस्याओं के समान एक परिधि में एक दूसरे की कड़ी बनकर घूमती हैं। इनका एक छोर पकड़ने का प्रयास, वृत्त का छोर खोजने के समान स्पर्श में निकट; पर दृष्टि से दूर रहता है।

'साहित्यकार क्यों लिखता है वह अपनी तृप्ति के लिए लिखता है अथवा समष्टि के सन्तोष के लिए। साहित्य-सृजन साहित्य-

कार का स्वेच्छा से किया आत्मदान है अथवा समाज की माँग की पूर्ति मात्र।

साहित्य-सृजन अपने सृष्टा के लिए जीवन है या जीवनयापन का साधन मात्र। साहित्य युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष। साहित्य के प्रेय और श्रेय की परीक्षा किसे दृष्टि में रख कर की जावे, आदि आदि प्रश्न ऐसे है, जिनके समाधान जीवन की समग्रता में ही प्राप्त हो सकते हैं, उसे अंशतः देखने में नहीं।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी व्यापकता ही मानी गई है और यह व्यापकता स्वयं व्यक्तिगत रुचि का निषेध है।

मनुष्य एक विशेष सामाजिक परिवेश में उत्पन्न होता है और कुछ संस्कार उसे अपने परिवेश से उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं और कुछ उसके व्यक्तिगत मधुरकटु, अनुभवों से बनते हैं। उसके कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं और कुछ समष्टिगत दायित्व, जिन्हें वह सामाजिक प्राणी के नाते स्वीकार करता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और समष्टिगत स्वार्थों में संघर्ष की सम्भावना जिस सीमा तक कम होती जाती है, उसी सीमा तक हम किसी समाज को और उसके सदस्यों को संस्कृत कहते हैं।

मनुष्य की महानता उसके दायित्व की विशालता का पर्याय है क्योंकि ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ समाज विशेष के स्वार्थ में ही लय नहीं हो जाता, वरन् मानव समष्टि के स्वार्थ या हित से एकाकार हो जाता है।

मनुष्य केवल प्राण-संवेदनयुक्त जीव ही नहीं है, वह अनन्य मानसिक सभावनाओं और संवेदन के विविध स्तरों का संघात है। बुद्धि की सचेतन प्रक्रिया और अन्तःकरण की वृत्तियों में सामञ्जस्य लाने का सचेतन प्रयास और उससे आनन्द की अनुभूति उसकी अपनी विशेषता है, जो उसे शेष सृष्टि से भिन्न कर देती है। केवल शारीरिक यात्रा के साधन और आत्मरक्षण की सहज चेतना उसमें अन्य प्राण-संवेदनयुक्त जीवों के समान होना स्वाभाविक है। परन्तु अपनी सामान्य स्थिति में असन्तोष अज्ञात स्थिति विषयक जिज्ञासा, अनुभूत तथ्यों के आधार पर सर्वथा अननुभूत सत्यों तक पहुँचने का प्रयास, प्रयास में आनन्द-मयी स्थिति की परिकल्पना और अप्राप्त लक्ष्य में आस्था आदि विशेषताओं के कारण ही वह विशिष्ट है। अपनी इस विकास-निष्ठ क्रिया को अबाध रखने के लिए वह अपने बौद्धिक और मानसिक स्तरों का संगठन और संशोधन नए नए प्रकारों से करता आ रहा है। अपने सहज प्राप्त परिवेश से ही संचालित न होकर वह उस पर अपने अन्तर्जगत् को भी प्रतिफलित करता चलता है, इस प्रकार उसकी गति से भौतिक विश्व की एक मानसिक सृष्टि भी होती आ रही है।

दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य सभी ने जीवन के इस दोहरे विकास में योग दिया है। पर मनुष्य की व्यक्ति और समष्टिनिष्ठ तथा बुद्धि और भावनिष्ठ अभिव्यक्तियाँ, साहित्य की अधिक ऋणी हैं। जीवन को समग्रता से स्पर्श करने के कारण और बुद्धि तथा अन्तःकरण की विभिन्न वृत्तियों का सश्लिष्ट करने

की क्षमता के कारण साहित्य सहज ही मनुष्य के रहस्य का उद्-
गीथ बन गया है।

यह तो सर्व स्वीकृत है कि साहित्य-सृजन का कार्य विशेष व्यक्ति कर पाते हैं जिन्हें उनके परिवेश तथा बुद्धि, अन्त:करण की वृत्तियों ने उपयुक्त साधनों से सम्पन्न कर दिया है। वे न अमानव हैं, और न अतिमानव, प्रत्युत् विकास के ऐसे बिन्दु पर सामान्य मानव हैं कि जीवन और परिवेश में अव्यक्त हलचल भी उनकी अनुभूति में व्यक्त हो जाती है। साहित्य को चाहे किसी ने जीवन का अनुकरण माना हो, चाहे कल्पनासृष्टि, चाहे जीवन नीति का संचालक कहा हो, चाहे सौन्दर्य बोध मात्र परन्तु उसके सृष्टा की विशिष्ट प्रतिभा को सभी ने स्वीकार किया। अभ्यास मात्र से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन सम्भव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नहीं करता, अन्य अतीत युगों की चर्चा ही व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में साहित्य को व्यक्तिगत रुचिमात्र मान लेना, उसके युगान्तर व्यापी प्रभाव को अस्वीकार करना है।

साहित्य विशेष व्यक्तित्व का परिणाम है, इसी अर्थ में उसे व्यक्तिगत कहा जा सकता है; पर इस अर्थ में मानसिक ही नहीं, भौतिक विकास भी वस्तुनिष्ठ रहेगा। विकास के रहस्यमय क्रम में एक वस्तु विकसित होकर विकसित करती है, इसी प्रकार विकास की परम्परा अबाध चलती हुई विकास का मानदंड निर्मित करती है।

अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है, क्योंकि उसमें नए संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौन्दर्यबोध उदय होता है और नए

जीवन दर्शन की उपलब्धि होती है। साराश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है, इसी से साहित्य-सृष्टि का लक्ष्य स्वान्तः सुखाय का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने कर्ता को बनाने के साथ उसके परिवेश को भी बनाती चलती है, क्योंकि समष्टि में इन्ही नवीन संवेदनों, सौन्दर्यबोधों और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।

फूल का विकास अपनी ही रूप-रग-रसमयता नही है, क्योंकि वह अपनी मिट्टी और परिवेश की शक्तियों का संयोजन और सवर्द्धन भी करता है। पौधा मिट्टी, धूप, पानी आदि नहीं बनाता, परन्तु इनकी सम्मिलित शक्तियों का रसायन ग्रहण कर स्वय बनता और उसे व्यक्त करने के लिए अपने परिवेश को बनाता है। मूर्तिकार न पाषाण बनाता है न छेनी का लोहा। वह केवल प्राकृतिक उपादानों और उनकी शक्तियों को संयोजित कर अपनी मानसी सृष्टि को प्रत्यक्ष कर स्वयं संतोष पाता और समष्टिगत परिवेश का संवर्द्धन करता है। संगीतकार भी स्वरों का और तारों की धातु का सृजन नही करता। चित्रकार भी प्रकृति म बिखरे रग और रेखाओं का सृजन नहीं करता। नृत्यकार भी गति का सृजन नहीं करता।

शिल्पी पाषाण में अव्यक्त आकारो को व्यक्त आकार देकर, चित्रकार प्रत्यक्ष रंग-रेखाओं के संयोजन में किसी अन्तर्निहित सामञ्जस्य को अवतार देकर और नृत्यकार व्यापक गति को जीवन की विविध चेष्टाओं में छन्दायित कर जो सृजन करता है, वह व्यक्ति सीमित नही हो सकता, क्योंकि न माध्यम व्यक्तिनिष्ट

है और न बौद्धिक प्रक्रियाएँ और मानसिक वृत्तियाँ केवल उसकी हैं। इसी से मनुष्य की अव्यक्त संभावनाएँ और संवेदन किसी न किसी बिन्दु पर सब के हो जाते हैं और सब के हो जाने में ही उनकी कृतार्थता है।

व्यक्ति से जिस सत्तागत अभिव्यक्ति अथवा अस्तित्वगत विशेषता का बोध होता है, वह भौतिक जगत् में अधिक है; पर ज्यों-ज्यों हम उसके भीतर प्रवेश करते हैं, त्यों-त्यों ये कठिन रेखाएँ गल-गल कर तरल होने लगती हैं। दो पत्ते भी समान नहीं है; पर दो मनुष्य आकार में भिन्न होकर भी संवेदन के स्तर पर समान हो सकते हैं।

इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियाँ कालान्तर व्यापिनी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसके सृष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं। जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय में साहित्य के चिन्ह हैं, अतः उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा। पर, जब हम उसे सामाजिक कर्म मान लेते हैं, तब यह समस्या मानसिक क्षेत्र से उतर कर सामाजिक धरती पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसका समाधान भी नये रूप में उपस्थित होता है।

यदि सामाजिक कर्म व्यक्ति का समष्टि को दान है, तो वह दान देने वाले और पाने वाले के मानसिक तथा भौतिक परिवेश के अनुसार ही कम या अधिक महत्त्व पाता है और ये दोनों परिवेश कभी-कभी एक दूसरे से इतने भिन्न जान पड़ते है कि देने वाले तथा पाने वाले में कोई सम्बध खोज लेना कठिन हो जाता है।

ऐसी स्थिति में ही साहित्य रुचि विशेष की भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है।

यह स्वीकार कर लेने पर कि साहित्य-सृजन व्यक्तिगत रुचिमात्र न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है, साहित्यकार की समस्या सामाजिक प्राणी की, और विशेष कार्यक्षम सामाजिक सदस्य की समस्या हो जाती है। समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता। समानाःअजन्ति समान संचरणशील व्यक्ति ही समाज है। इन व्यक्तियों में, व्यष्टिगत स्वार्थ की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषम आचरण में साम्य उत्पन्न करने वाले समझौते की स्थिति अनिवार्य रहेगी। व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थों में संघर्ष की संभावना ज्यों-ज्यों घटती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति का परिवेश समष्टि के परिवेश तक फैलता जाता है और पूर्ण विकसित समाज में व्यक्ति के सीमित परिवेश की कल्पना ही कठिन हो जाती है। मनुष्य अपनी क्रियाशीलता को समाज को सौंप देता है और इस समर्पण से वह स्वयं एक विशाल और निरन्तर सृजन का अंशभूत हो जाता है। पर स्वस्थ समाज में व्यक्ति की क्रिया शक्ति की स्वाभाविक परिणति जीवन के विकास की सुविधा ही रहती है। जब ऐसा तारतम्य नहीं रहता, तब ऐसी विच्छिन्न क्रिया कभी विद्रोह का पर्याय मानी जाती है, कभी अपराध की संज्ञा पाती है।

स्वयं को शासित रखने के लिए समाज एक लिखित विधि-निषेधमय विधान रखता अवश्य है; पर वह संचालित ऐसे अलिखित विधान से होता है, जो परम्परा, रुचि,

आस्था, सस्कार मनोविकार आदि का संश्लिष्ट योगदान है।

पूर्ण से पूर्ण समाज भी व्यक्ति के जीवन को सब ओर से नहीं घेर सकता, क्योंकि मानव-स्वभाव का बहुत-सा अंश समाज की सीमा-रेखा के बाहर मुक्त और उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।

मनुष्य के जीवन का जितना अंश नीति, शिक्षा, आचार आदि सामाजिक सस्थाओं के सम्पर्क में आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित माना जायगा। समाज यदि मनुष्यों के समूह का नाम नही है, तो मनुष्य भी केवल क्रियाओं का संघात नही है, दोनों के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और विषाद की प्रेरणा रहती है। आचरण को सेना के समान कवायद सिखा देना ही जीवन नहीं है, वरन् कर्म को प्रेरित करने वाले मनोविकारों के उद्गम खोजकर उनमें विकास की अनुकूलता पा लेना जीवन का लक्ष्य है।

साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव-स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनुकूलता, उत्पन्न करना है।

एक ओर वह विधि-निषेध से बाहर उड़ने वाले मानव मन को समष्टि से बाँध कर उसकी निरुद्देश्य उड़ान को थाम लेता है और दूसरी ओर समाज की दृष्टि से ओझल मानव-स्वभाव की विविधताओं को उसके सामने प्रस्तुत कर सामाजिक मूल्यांकन को समृद्ध करता है। इस प्रकार निर्बन्ध कुछ बँध जाता है और बद्ध के बन्धन कुछ शिथिल हो जाते हैं।

मनुष्य को अपने लिए विशेष वातावरण ढूँढने नहीं जाना पड़ता। वह एक विशेष परिवेश में जन्म लेकर वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं से परिचित और अनुशासित होता चलता है। जैसे उसे साँस के लिए वायु अनायास मिल जाती है, उसी प्रकार समाज का दान भी अयाचित और अनजाने ही उसे प्राप्त हो जाता है। जब तक वह अपने आपको जानने की स्थिति में पहुँचता है, तब तक समाज उसे एक साँचे में ढाल चुकता है परन्तु यदि मनुष्य अपने इसी निर्माण पर सन्तुष्ट हो सके तो उसमें और जड़ में अन्तर ही क्या रहेगा। वह दर्जी के सिले कपड़ो के समान समाज के विधि-निषेध को धारण कर लेता है और तब उनके तंग या ढीले होने पर, सुन्दर या कुरूप होने पर संतुष्ट-असन्तुष्ट होता है।

यह सन्तोष-असन्तोष समाज के शासन की परिधि में नहीं आता; पर साहित्य इसी का मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दों में समाज के दान की जहाँ इति है, साहित्य का अर्थ उसी बिन्दु से चलता है।

अतः साहित्यकार का सामाजिक कर्म अन्य कर्मो को तौलने वाले तुला और बाँटों से नहीं तुल सकता। अन्य क्षेत्रों में समाज अपने सदस्यों की क्रियाशक्ति को अपने आधीन कर उनकी प्रतिभा और कुशलता के अनुसार उनका कार्य निश्चित कर देता है और उसके प्रतिदान में उन्हें जीवन-यात्रा की सुविधायें देता है। दोनो पक्षों का आदान-प्रदान इतने स्थूल धरातल पर स्थित है कि उसकी उपयोगिता के विषय में किसी सन्देह का अवकाश कम रहता है।

भारी पैनी तलवार गढने वाले लौहकार के कार्य का महत्त्व भी समाज जानता है और हल्की अँगूठी में रत्नों की बारीक जड़ाई करने वाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उससे छिपा नहीं है। कष्टलभ्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी की प्रत्यक्ष योग्यता का भी उसे ज्ञान है और मन्दिर में मौन जप करने वाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना में भी उसका विश्वास है। न्यायासन पर दंड-पुरस्कार का वितरण करनेवाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय में उसे सन्देह नहीं है और समाज की नई पीढ़ी को परम्परानुसार शान्त-दान्त बनाने में लगे शिक्षाशास्त्री के कार्य का भी उसके पास लेखा-जोखा है।

इन विविध कर्त्तव्यों को, उसने अधिकारी व्यक्तियों को स्वयं सौंपा है और इन कर्त्तव्यों के विषय में एक परम्परागत शास्त्र भी निश्चित है। वे कैसे करते हैं यह दूसरा प्रश्न है ; परन्तु वे क्या करें और क्या न करें, के विषय में द्विविधा नहीं है। कठिन दंड के पात्र को दंड कम मिले, या न मिले यह मतभेद का विषय हो सकता है ; परन्तु दंड-पुरस्कार-विधान समाज-स्वीकृत है और न्याय का कार्य समाज द्वारा किसी को सौंपा गया है। हर सामाजिक संस्था समाज का अंग है और वह मनुष्य-जीवन के उन्हीं अंशों से सम्बद्ध रहती है, जिन पर समाज की सत्ता है। मानव-स्वभाव का जो अंश समाज के विधि-निषेध की परिधि के बाहर अस्तित्व रखता है, उसके लिए सामाजिक संस्था नहीं बनाई जा सकती; पर उस तक समाज के सुख-दुखों की अनुभूति पहुँचाकर उसे समाजोन्मुख किया जा सकता है। पर यह कार्य व्यक्ति करता है, जिसे समाज

के सौन्दर्य और विरूपता, सुख और दुःख की व्यष्टिगत:पर तीव्र अनुभूति होती है। समाज अपने अन्य क्षेत्रों के समान इसके हाथ मे कोई विधि-निषेध शास्त्र देकर नहीं कह सकता मै तुम्हें कवि नाटककार आदि के कर्त्तव्य पर नियुक्त करता हूँ. तुम मेरे विधान के स्थायित्व के लिए कार्य करो।

वस्तुत: समाज किसी साहित्यकार के अन्तर्जगत् की हल्चल से परिचित तब होता है. जब वह अभिव्यक्ति पा लेती है। इस अभिव्यक्ति से पहले अनुभावक शक्तियों से और उसकी अनुभूति की तीव्रता से समाज अपरिचित रहता है और यह अपरिचय एक सीमा तक व्यक्ति और समाज को विरोधी पक्षों में भी खड़ा कर सकता है।

साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है; पर क्या उसी तरह निर्झर, पर्वत की अपराजेय शक्ति नही है? क्या पर्वत की शक्ति होने के कारण उसे उसकी कठोर शिलाओं से संघर्ष नही करना पडता? पर्वत से सर्वथा अनुकूल स्थिति रखने के लिए तो प्रपात को जमकर शिलायित होना पड़ेगा। सन्तान का जन्म माता की पीडा का भी जन्म है। इसी प्रकार साहित्य भी, समाज में, समाज के लिए निर्मित होकर भी उसमें कोई उद्वेलन, कोई असन्तोष उत्पन्न करता ही है। ऐसी स्थिति में समाज , साहित्य को सामाजिक और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म के रूप में स्वीकार न करे, तो आश्चर्य नही। जिस युग से समाज की दबी हलचलें उसके अन्य क्षेत्रो में भी कुछ असन्तोष उत्पन्न करने लगती हैं, उसमें साहित्य सहज ही नेतृत्व प्राप्त कर लेता है . पर जिन युगों में समाज के अवचेतन

मन पर जड़ता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमें साहित्य को अकेले जूझना पड़ता है।

परन्तु साहित्य चाहे जिस भूमिका में उपस्थित हो, वह मानव जाति का, विकास के समान ही अविच्छिन्न साथी रहता है। प्रत्यक्ष वस्तु सत्य से अप्रत्यक्ष सम्भाव्य सत्य तक उसकी सीमाएँ इस प्रकार फैली रहती हैं कि मनुष्य उसे अपने अतीत विकास का प्रमाण भी मानता है, वर्तमान का मापदंड भी और अनागत भविष्य का संकेतधर भी। सभी देशों मे साहित्य का सृजन विशेष प्रतिभा से सम्बद्ध है, और विशेष प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार का विशेष महत्त्व भी सर्व-स्वीकृत है। आज तक प्रतिभा को समान रूप से बाँटने का उपाय विज्ञान को उपलब्ध नहीं हो सका है, अतः साम्योपासक देशों में भी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारों को असामान्य स्थिति प्राप्त है।

वस्तुतः साहित्य-सृजन समग्र जीवन, समस्त शक्तियों का सश्लिष्ट दान है। जीवन में कुछ कार्य जीवन-निर्वाह के साधन मात्र हैं, कुछ जीवन के साध्य हैं और कुछ साधन-साध्य दोनो का एकीकरण है। केवल बाह्य जीवन में सीमित क्रिया साधन हो सकती है, केवल अन्तर्जगत् में मुक्त साध्य हो सकती है ; परन्तु अन्तर्जगत् की प्रक्रिया का बाह्य रमात्मक अवतरण साधन और साध्य को एकाकार कर सकता है। यह ऐसा दान है, जिसे देकर भी हम पाते हैं। यह ऐसा स्वार्थ है, जिसे पास रख कर भी हम देते हैं। पर इस दोहरी स्थिति के कारण ही साहित्यकार के जीवन के साधन और साध्य कुछ रहस्यमय हो जाते हैं। इस स्थिति को समझने

के लिए ऐसे संस्कृत समाज की आवश्यकता रहती है, जो अपने दिये मूल्य को अधिक न समझे और उससे प्राप्त सृजन को न्यून न माने।

साहित्य की दृष्टि से हमारा देश इतना अधिक समृद्ध है कि उसकी मूल्यांकन-शक्ति के विषय में सन्देह कठिन हो जाता है। जीवन के विविध क्षेत्रों में विशेष उपलब्धियाँ सुलभ करने वालों की जीवन-यात्रा के साधन उसने इस सहज भाव से दिये कि उसके मन में अहंकार का कोई संस्कार नही बन सका। व्यक्ति के विशिष्ट सृजन को उसने इतना महत्त्वपूर्ण और महार्घ माना कि सृष्टा को याचक का दैन्य कभी स्पर्श नही कर सका।

इस स्थिति ने विषम युगों में समस्याएँ भी उत्पन्न की, पर साधारणत: समाज और साहित्यकार में खरीदने और बेचने वालो की आपाधापी के लिए अवकाश कम रहा। आज भी लोक-जीवन और उसके साहित्यकारों की ऐसी स्थिति है, जिसमें एक अहंकार से शून्य है और दूसरा दैन्य से अपरिचित।

जिन युगों में हमारा सांस्कृतिक ह्रास अपनी चरम स्थिति 'मे था उनमें भी माँग के खैबो मसीद को सोइबो' कहने वाले साहित्य-साधक समाज के गुरु और शास्ता रहे।

उनकी जीवन-यात्रा की व्यवस्था करने वाले लोक के अवचेतन मन में भी कभी यह प्रश्न नहीं उठा कि जीवन-यात्रा के लिए हमारे आश्रित होकर भी ये हमारे शास्ता होने का अहंकार क्यो करते हैं। जिन साहित्यकारों ने लोक की अवज्ञा कर व्यक्ति का आश्रय लिया, उनकी स्थिति की मर्यादा भी इसी परम्परागत

संस्कार ने बाँधी। जिस प्रकार घर के छोटे झरोखे से थोड़ा प्रकाश पाने वाला भी प्रकाश की असीमता की अवज्ञा नहीं कर सकता, उसी प्रकार संकीर्ण सीमा में निर्मित साहित्य ने भी विराट् मानवता में फैले साहित्य से अपने सम्बन्ध का परिचय देकर अपने रचियता को क्षुद्र होने से बचाया। नदी तट बनाती है; पर तटों के साथ तो वह समुद्र में स्थिति नहीं रख सकती और यही मुक्ति उसके बन्धन को क्षुद्र नहीं होने देती।

आज हम विशेष युग में हैं और संस्कार के नाम पर हमें परम्परा के परिणाम से संघर्ष करना पड़ रहा है। जुआ उतार कर फेंका जा सकता है; पर जुआ वहन करने के परिणाम या प्रमाण जो गर्दन के क्षत या काठिन्य में अंकित हो जाते हैं, उन्हें काट कर फेंक देना सम्भव नहीं रहता। उस कठोर या आहत स्थान को स्वाभाविक स्थिति में लाने के लिए समय और उपचार दोनों अपेक्षित रहते हैं।

काठिन्य, भार के अति सह्य होने का प्रमाण या स्वाभाविक संवेदनशीलता के न्यून होने की सूचना है, जिसकी उपस्थिति में भार उतारना व्यर्थ जान पड़ता है। क्षत, संवेदनशीलता में अस्वाभाविक वृद्धि है, जिसके कारण स्वाभाविक सहनशक्ति नष्ट हो कर तन्तुओं को अक्षम बना देती है।

हमारे जीवन की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। कहीं हम रुढ़ियों के अम्बार लाद कर भी भार का अनुभव नहीं करते और कहीं हमारे लिए संस्कार का हल्का स्पर्श तक असह्य हो जाता है। दोनों ही स्थितियाँ अस्वाभाविक हैं।

हमारी स्वतन्त्रता के सात वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उसे हम अपने राष्ट्र-जीवन का तुतला उपक्रम मात्र नहीं कह सकते किसी अन्य अतीत युग मे कहना सम्भव था; परन्तु आज जब समय बैलगाड़ी रथ छोड़कर वायुयान पर उड़ने लगा है, एक केन्द्र मे मुखर होकर ससार भर से बोलने लगा है, एक क्षण को छूकर इतिहास के असंख्य पृष्ठ लिखने लगा है, तब हमें अपनी समय सम्बन्धी धारणाएँ भी बदलना चाहिए।

धरती, समुद्र, पर्वत, नक्षत्र तक जब परिवर्तन के अंक बनते जा रहे हैं, तब 'उत्पस्यते मम कोपि समानधर्मा' कहकर अनन्त प्रतीक्षा की समस्या नही रह गई है। लक्ष्य की दिशा में उठाया पग और लक्ष्य प्राप्ति आज इतने निकट और एक दूसरे के पर्याय हैं कि मार्ग खोजने, भटकने, पाने की अनेक स्थितियों का एक हो जाना स्वाभाविक है।

इस भूमिका में जब हम अपने साहित्य और उसके सृष्टाओं को रख कर देखते हैं, तब साहित्य के भविष्य के लिए चिन्ता स्वाभाविक हो जाती है। कुछ प्रतिष्ठित वयोवृद्ध, अतः सरकारी पदो के लिए अनुपयुक्त तथा कुछ अति साधारण, अतः सरकारी कार्यों के लिए अयोग्य लेखकों को छोड़कर प्रायः सभी लेखक सरकारी विभाग में आश्रय पा गये हैं। उनके जीवन-यापन की समस्या अवश्य ही सुलझ गई है; परन्तु सुलझाने की विधि ने इस देश की वाणी के अवतरण के मार्ग में एक सब से बडी समस्या उत्पन्न कर दी है।

क्या साहित्य केवल व्यक्तिगत रुचि—हाँबी—मात्र है। क्या उसे

विशेष प्रतिभा द्वारा संपादित और स्थायी महत्त्व का सामाजिक कर्म मानकर अतीत युगों ने भूल की है। क्या अन्य युगों और देशो की उक्त भूल का परिमार्जन करने के लिए ही हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था हो रही है। क्या इस व्यवस्था से साहित्य का लक्ष्य, राज-नीतिक लक्ष्य से एकाकार हो सकेगा और क्या इस ऐक्य से साहित्य के मूल्यों की रक्षा और वृद्धि हो सकेगी—ये सभी प्रश्न सामयिक है और हमारे चिन्तन से कोई-न-कोई समाधान चाहते है।

विश्वासी बुद्धि और विवेकी हृदय अपने आप में सब शंकाओ का समाधान है। यदि आज हम इन दो विशेषताओं को सुलभ करने की साधना मे लग जायें, तो अन्य समस्याएँ स्वयं सुलझ जायेंगी।

# हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओ मे सामान्य विशेषता बन गई है। जड़ वस्तुओं मे समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम में प्रतिफलित होने वाला आदान-प्रदान नही। एक शिला दूसरी पर गिर कर उसे तोड सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रह कर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नही कही जायेंगी, क्यों कि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य में होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से मिलाकर, अनुभव को अनुभव में लय कर के, समष्टिगत बुद्धि को अभेद और समष्टिगत अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनों से दूरातिदूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने में समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवों की संगति के बिना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम में बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयात्री भी एक दूसरे के समीप होते है, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी; परन्तु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः कितने भिन्न हैं! पहली स्थिति मे एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी

समीपता मे एक, दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश मे उमडता हुआ बादल और उमड़ता हुआ बमवर्षक यान दोनों ही हमारे समीप कहे जायेंगे; परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शंकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसीसे आज के युग में मनुष्य पास है, परन्तु मनुष्य का शंकाकुल मन पास आने वालों से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए मनों की निकटता पहली आवश्यकता है।

हमारे विशाल और विविधता भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर में ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया था, जिसकी सीमा प्राणिमात्र तक फैल गई। हमारे विकास-पथ पर व्यष्टिगत बुद्धि, समष्टिगत बुद्धि के इतनी समीप रही है और व्यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का ऐसा अभिन्न संगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नहीं उठा। इसी से सम्पूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसमें बँटा जीवन एक ही सास्कृतिक उच्छवास में स्पन्दित और अभिन्न रह सका है।

कहीं किसी सुन्दर भविष्य मे, अपरिचय इस ऐक्य के सूक्ष्म बन्धन को छिन्न न कर डाले, सम्भवतः इसी आशंका से अतीत के चिन्तकों ने देश के कोने-कोने में बिखरे जीवन को निकट लाने के साधनों की खोज की। ऐसे तीर्थ, जिनकी सीमा का स्पर्श जीवन की चरम सफलता का पर्याय है; ऐसे पुण्यपर्व, जिनकी छाया में वर्ण, देश, भाषा आदि की भित्तियाँ मिट जाती हैं; ऐसी यात्राएं, जो

देश के किसी खंड को अपरिचित नहीं रहने देतीं, आदि आदि सब अपरिचय को दूर रखने के उपाय ही कहे जायेंगे।

अच्छे बुने हुए वस्त्र में जैसे ताना-बाना व्यक्त नहीं होता, वैसे ही हमारी सांस्कृतिक एकता में प्रयास प्रत्यक्ष नहीं है। पर है वह निश्चय ही युगों की अविराम और अथक साधना का परिणाम। राजनीतिक उत्थान-पतन, शासनगत सीमाएँ और विस्तार हमारे मनको बाँधने में असमर्थ ही रहे, अतः किसी भी कोने से आने वाले चिन्तन, दर्शन, आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय में अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने मे समर्थ हो सकी।

जीवन के सत्य तक पहुँचाने वाले हमारे सिद्धान्तों में ऐसा एक भी नहीं है, जिसमें असंख्य तत्त्वान्वेषियों के चिन्तन की रेखाएँ न हों; उसे शिवता देने वाले आदर्शों में ऐसा एक भी नहीं है, जिसमे अनेक साधकों की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुन्दर बनाने वाले स्वप्नों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें युग-युगों के स्वप्नद्रष्टाओं की दृष्टि का आलोक न हो।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए, नदी नालों की तो चर्चा ही व्यर्थ है। यदि अपनी क्रमागत एकता को सजीव और व्यापक रखने में हमारा युग कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं देता, तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नहीं कहा जायगा।

युगों के उपरान्त हमारा देश एक राजनीतिक इकाई बन सका है, परन्तु आज यदि हम इसे सांस्कृतिक इकाई का पर्याय मान लें, तो यह हमारी भ्रान्ति ही होगी।

कारण स्पष्ट है। राजनीतिक इकाई जीवन की बाह्य व्यवस्था

मे सम्बन्ध रखती है, अतः वह बल से भी बनाई जा सकती है। परन्तु सांस्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था में बनती है, जिसमें मनुष्य भेदों से अभेद की ओर और अनेकता से एकता की ओर चलता है। इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए बुद्धि से बुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है।

इस संबंध में विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। हर क्रान्ति हर संघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ वरदान और कुछ अभिशाप लाते हैं। वर्षा की बाढ़ अपने साथ जो कूड़ा-कर्कट बहा लाती है, वह उसके वेग मे न ठहर पाता है और न असुन्दर जान पडता है; पर बाढ़ के उतर जाने पर जो कूड़ा-कर्कट छिछले जल या तट से चिपक कर स्थिर हो जाता है, वह असुन्दर भी लगता है और जल की स्वच्छता नष्ट भी करता रहता है। दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरान्त ही लहरें उसे धारा के बहाव में डाल कर जल को स्वच्छ कर पाती हैं।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है। संघर्ष के दिनो मे राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारी दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु थी और समस्याएँ भी जीवन के उसी अंश से सम्बद्ध रह कर महत्त्व पाती थी। परन्तु, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त संघर्ष-जनित वेग के अभाव में हमारी गति मे ऐसी शिथिलता आ गई, जिसके कारण हमारे सांस्कृतिक स्तर का निम्न और जड़ हो जाना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षों की समस्याएँ अपने-अपने

समाधान माँगने लगीं। स्वतन्त्रता, अप्राप्ति के दिनों में साध्य और उपभोग के समय साधनमात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप में निरपेक्ष और पूर्ण नहीं कही जायगी। जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतन्त्रता को जीवन के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य दे सकता है, उसके जीवन में गतिरोध का प्रश्न नहीं उठता; पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अन्त का दूसरा नाम है।

सभ्यता और संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटियाँ महत्त्वपूर्ण हो सकती हैं; परन्तु प्रथम नहीं।

दर्शन, साहित्य आदि से सम्बद्ध उपलब्धियाँ तो व्यक्ति के माध्यम से आती हैं। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं और कभी उनका विरोध। एक अत्यन्त युद्धप्रिय जाति में ऐसा विचारक या साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है, जो शान्ति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी जो उसी प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे।

पर सभ्यता और संस्कृति किसी एक में सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्यांकन समाजबद्ध व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में ही सम्भव है। वह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान की कृतियाँ सम्भव होती हैं।

विगत कुछ वर्षों से हमारे जीवन से संस्कार के बन्धन टूटते

जा रहे हैं और यदि यही क्रम रहा, तो आसन्न भविष्य में हमारे लिए संस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करना कठिन हो जायगा। हरे पत्ते और सजीव फूल वृन्त से एकरसमयता में बँधे रहते हैं, पर बिखरने वाली पँखुड़ियाँ और झड़ने वाले पत्ते न वृंत के रस से रसमय रहते हैं, न वृक्ष की जीवनी शक्ति से सन्तुलित।

हमारे समाज के सम्बन्ध में भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन के व्यापक नियम से प्राणवन्त है और न अपने देश-गत संस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके बिखरने की पूर्व सूचना है या नहीं, यह तो भविष्य ही बता सकेगा; पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिन्ह नहीं।

हमारे विषम आचरण, भ्रान्त असंस्कृत आवेग आदि प्रमाणित करते हैं कि हमारा मनोजगत् ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियाँ कठिन हैं; पर यह भी मिथ्या नहीं कि हमारी मानसिक स्थिति हमें न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न संघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते हैं; परन्तु हमारी थकावट के मूल में किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नहीं है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण-क्षण करवटें बदलने की क्रिया है, जो उसकी चिन्तनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन में ऐसे संक्रान्तिकाल आते रहते हैं, जब उस-की मान्यताओं का कायाकल्प होता है, मूल्यांकन के मान नये होते हैं और जन की गति में पुरानी गहराई के साथ नई व्यापकता

का संगम होता है। परन्तु, जैसे नवीन वेगवती तरंग का पुरानी मन्थर लहर में मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही संस्कार और अधिक संस्कार मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है, सुन्दर और सुन्दरतर, शिव और शिवतर, आंशिक सत्य और अधिक आंशिक सत्य में कोई तात्त्विक विरोध नहीं हो सकता। सुन्दरतम, शिवतम और पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए हमें सुन्दर, शिव और आंशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिस युग का मानव यह सिद्धान्त भुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुन्दर तक पहुँचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुँचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है उसे अँधेरे मे भटकना ही पड़ेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्य-रहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अन्तर-बाह्य संस्कारों की परीक्षा करनी पड़ती है, निर्माण में उसकी आस्था जगानी पड़ती है, संघर्ष को सृजनयोग बनाना पड़ता है।

आधुनिक युग में मानसिक संस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य, शिक्षा आदि के जितने साधन उपलब्ध हैं, वे न द्रुतगामी है न सुलभ। पर, साधनों की खोज में हमारी दृष्टि यन्त्र-युग की विशाल कठोरता की छाया में भी जीवित रह सकनेवाली मानव-संवेदना की ओर न जा सके, तो आश्चर्य की बात होगी।

हमारे चारों ओर कभी प्रदेश, कभी भाषा, कभी जाति, कभी धर्म के नाम पर उठती हुई प्राचीरें प्रमाणित करती हैं कि बौद्धिक दृष्टि से हमारा लक्ष्य अभी कुहराच्छन्न है। पर, जिस दिन

हमारी बुद्धि में अभेद और हृदय में सामञ्जस्य होगा, उस दिन हमारी सांस्कृतिक परम्परा को नयी दिशा प्राप्त हो सकेगी। जीवन के नव निर्माण में साहित्य और कला विशेष योगदान देने में समर्थ हैं। क्योंकि वे मानव-भावना के उद्‌गीथ हैं।

जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लंघ्य पर्वतों और दुस्तर समुद्रों को पार करने में वर्षों का समय बिताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वे ही वैतालिक रहे हैं।

आज जब विज्ञान ने वर्षों को घंटों में बदल दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें।

हम विश्व भर से परिचय की यात्रा में निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें, तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर में अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशंका के काले बादल उठते रहे, तो हमारे उजले संकल्प पथ भूल जायेंगे। अतः आज दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।